ॐ पूर्णमदः, पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
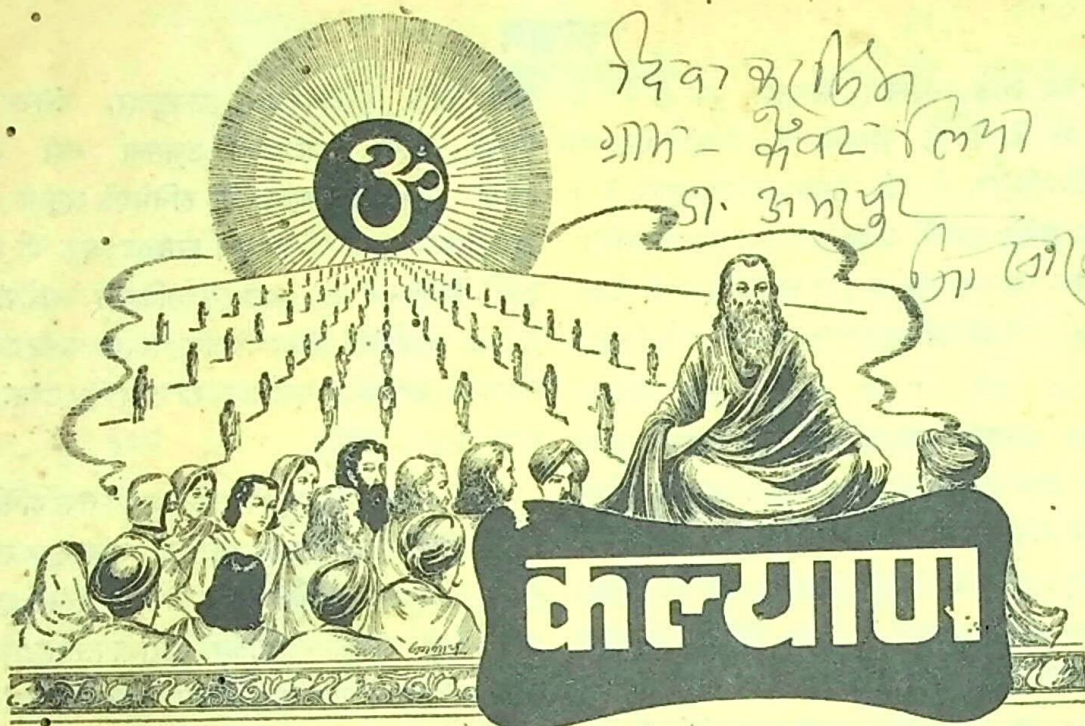
पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर कार्तिक २०१३, अक्टूबर १९५६ { संख्या १०
पूर्ण संख्या ३५९

वरण

देव-दानवोंने मथा मिलकर उदधि अपार ।
निकला विष, जलने लगा उससे सब संसार ॥
विकल देख जग, पी गये शंकर करुणागार ।
मन्थन करने लगे फिर, कर सब जय-जयकार ॥
निकले रत्न विविध, हुआ श्रीका आविर्भाव ।
दिव्य वसन-भूषण, सजे, मनमें अतिशय चाव ॥
जा पहुँचीं हरिके निकट, हाथ लिये वरमाल ।
वरा नित्यपतिको पुनः लक्ष्मी हुईं निहाल ॥

(श्रीमद्भागवत, अष्टम स्कन्ध)

याद रक्खो—भगवान्, सत्यतत्त्व एक ही हैं। वे ही ब्रह्म हैं, वे ही परमात्मा हैं। वे ही निराकार-निर्विशेष-निर्गुण, वे ही साकार-सविशेष-सगुण हैं। उनके अनेक नाम हैं, अनेक रूप हैं, 'नाम-रूपरहित' भी एक नाम-रूप ही है। वे सभीमें एक हैं, नित्य परिपूर्ण हैं। विश्वाकार, विश्वाधार, विश्वातीत वे ही हैं।

याद रक्खो—वे एक ही परम तत्त्व परमात्मा विभिन्न साधकोंके द्वारा विभिन्न नाम-रूपोंसे उपासित होकर उन्हें अपने स्वरूपका दर्शन करानेके लिये विभिन्न रूपोंमें अभिव्यक्त हो रहे हैं। वे ही भगवान् श्रीनारायण, श्रीशङ्कर, श्रीदुर्गा, श्रीसूर्य, श्रीगणेश और इन पाँचोंके विभिन्न अनन्त स्वरूप हैं; इनके अतिरिक्त अन्यान्य धर्मावलम्बियोंके जो विभिन्न इष्ट हैं, वे भी वे ही हैं। यहाँतक कि नास्तिकोंका 'नहीं है' भी वे ही हैं।

याद रक्खो—साध्य तत्त्वमें किसी प्रकारका कभी भेद न होनेपर भी साधनके भेदसे उनमें भेद है। साध्यका स्वरूप तथा साधन-प्रणाली रुचि, भाव, अधिकारके अनुसार विभिन्न प्रकारकी हुआ करती हैं और होनी चाहिये। सारी साधन-प्रणालियोंको एक करनेकी चेष्टा तो व्यर्थ प्रयास या पागलपन है। कोई कहे कि दक्षिणके कन्याकुमारी, उत्तरके बदरिकाश्रम, पूर्वके आसाम-प्रान्तीय शिवसागर और पश्चिमके काश्मीर—सभी जगहके लोगोंको काशी आनेके लिये शुरूसे एक ही मार्ग ग्रहण करना चाहिये, तो वह जैसे पागल है, वैसे ही सब साधन-प्रणालियोंको—साधन-मार्गोंको एक करनेकी कहनेवाला भी समझदार नहीं है।

याद रक्खो—सौम्य प्रकृतिवाला पुरुष कभी कराली काली, छिन्नमस्ता, भगवान् नृसिंह, प्रलयंकर शंकर आदिकी उपासना नहीं कर सकता और क्रूर प्रकृति-वाला व्यक्ति मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर, हंसवाहना सरस्वती, शान्त सदाशिवकी उपासना नहीं कर सकता। उपासकोंके प्रकृति और रुचिभेदके अनुसार ही उपासनाका स्वरूप होता है। परमात्मा एक ही हैं, इसीसे किसी भी नाम-रूपसे सर्वशक्तिमान्, सर्वोपरि, सर्वरूप, सर्वातीत सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माकी उपासना करनेवाला एक ही सत्यतत्त्वकी उपासना करता है।

याद रक्खो—जो मनुष्य अपनी प्रकृति तथा रुचिके विरुद्ध दूसरे इष्ट या साधन-प्रणालीको स्वीकार करता है, वह सफल नहीं होता और जो लोग किसी एक साधनपथपर चलनेवाले व्यक्तिको उस पथसे हटाकर उसकी पद्धतिके विपरीत दूसरे पथपर घसीटनेका प्रयास करते हैं, वे उसका अहित ही करते हैं। इससे वह पथभ्रष्ट हो जाता है, नये पथपर चल नहीं सकता और अकर्मण्य होकर जीवन नष्ट कर देता है। अतएव अपने-अपने पथपर चलते रहो और दूसरे-दूसरे पथों-पर चलनेवालोंके लिये भी यही समझो कि ये सभी पृथक्-पृथक् मार्गोंसे हमारे ही प्रभुके धामकी ओर जा रहे हैं। न किसीसे घृणा-द्वेष करो, न किसीको नीचा समझो, न किसीको उसके सन्मार्गसे हटानेका यत्न करो और न स्वयं ही किसी दूसरे मार्गकी ओर लुभाकर अपने मार्गको छोड़ो।

याद रक्खो—विभिन्नतामें ही प्रभुके संसारकी शोभा है। विभिन्नता कभी मिट नहीं सकती। अपने-अपने साधनपथपर चलकर इस विभिन्नतामें नित्य एकताको देखने और सारी विभिन्नताओंके आत्मा—मूल एक परमात्माको प्राप्त करनेमें ही मानव-जीवनकी चरम और परम सफलता है।

'शिव'

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । पत्र मिला । समाचार मालूम हुए । आपने अपने जीवनका हाल लिखा और अपने पिताजीके कठोर खभावकी बातें लिखीं, सो सब बातें मालूम हुईं । इस परिस्थितिमें आपने अपना कर्तव्य पूछा, सो अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार नीचे लिख रहा हूँ।

मनुष्यको चाहिये कि किसीके अवगुण और कर्तव्य-पालन न करनेकी ओर न देखे, अपना कर्तव्य-पालन करता रहे और दूसरेसे किसी प्रकारके सुख-भोगकी आशा न करे। ऐसा करनेसे वह अपने साथियोंके मनको भी बदल सकता है और सबका प्रेम प्राप्त कर सकता है । अतः आपको चाहिये कि आप अपने पिताजीके दोष न देखें । ऐसा समझें कि यह परिस्थिति मुझे भगवान्‌की कृपासे संसारमें वैराग्य उत्पन्न करने और घरवालोंसे मोह छुड़ानेके लियें मिली है, अतः मुझे पिताजीपर क्रोध या घृणा नहीं करनी चाहिये । नित्यप्रति उनको प्रणाम करना चाहिये । उनकी आज्ञा-का पालन और सेवा करनी चाहिये । हर प्रकारसे उनको सुख देना चाहिये । वे क्रोध करें, कठोर वचन कहें तो उनको सहन करना चाहिये तथा बड़े नम्र शब्दों-में उनसे प्रार्थना करनी चाहिये । उनके क्रोधके कारण-को जानकर भविष्यमें उनके क्रोधका कारण नहीं बनना चाहिये । जिस प्रकार उनके क्रोधका नाश हो, उनको शान्ति मिले, वैसी ही चेष्टा करनी चाहिये । पुरानी घटनाओंको याद नहीं करना चाहिये । उन घटनाओंका चिन्तन करनेसे मनमें विकार उत्पन्न होगा, लाभ कुछ भी नहीं होगा; अतः उनको भुला देना चाहिये ।

(२)

सप्रेम राम-राम । आपका पत्र मिला । हमने आपके पत्रका उत्तर विस्तारसे दिया, इससे आपको बहुत ही संतोष तथा आनन्द प्राप्त हुआ, सो आपके प्रेम और भावकी बात है ।

आपने लिखा कि मेरा पूर्वसंचित कर्म पापमय ही रहा है, इसी कारण भगवान्‌ने बचपनसे ही रोग दे दिया । सो अवश्य ही ऐसा रोग पूर्वकृत कर्मका ही फल है । पर इससे तो कर्मका ऋण ही उतर रहा है, यह अच्छा ही हो रहा है । आपने यह भी लिखा कि मेरे क्रियमाणमें भी खोटे ही कर्म अधिक बने हैं, और भी बन रहे हैं; सो अब खोटे कर्मोंको नहीं बनने देना चाहिये । पहले जो खोटे कर्म बन चुके हैं, उनके लिये भगवान्‌से रो-रोकर क्षमा माँग लेनी चाहिये एवं भविष्यमें खोटे कर्म बिल्कुल न करनेका दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये। साथ ही अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌की प्राप्तिके लिये उनके भजन-ध्यानमें तत्परतासे लग जाना चाहिये । पहले किसीसे चाहे बड़े-से-बड़ा पाप क्यों न बन चुका हो, परंतु जो भविष्यमें पाप न करनेका निश्चय करके भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भजन-ध्यानमें तत्पर हो जाता है, वह उस पापसे रहित होकर शाश्वती शान्तिको प्राप्त कर लेता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है । गीता-तत्त्वाङ्क (तत्त्वविवेचनी टीका) में अध्याय ९ श्लोक ३० और ३१ की व्याख्या देखनी चाहिये । भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें ही सब बातें बतायी हैं । अतः आप-को आशावादी होकर भगवान्‌के भजन-ध्यानमें लग जाना चाहिये ।

आपने आगे जाकर लिखा कि 'आपके सत्सङ्गकी बातें सुनकर अच्छी राहकी ओर चलनेका प्रयत्न करता

हूँ, किंतु पूर्वके संस्कार बाधा डालते हैं, सो ठीक है। इसके लिये आपको हठपूर्वक नित्य-निरन्तर श्रद्धा, भक्ति और निष्कामभावसे जप-ध्यान करते रहना चाहिये। इस प्रकार करते-करते पूर्वके संस्कार धीरे-धीरे बिल्कुल समाप्त हो सकते हैं।

सत्सङ्गसे भगवान्‌को प्राप्त करना ही मुख्य काम समझकर साधनोपयोगी साहित्यका संग्रह करके आपने अपने मनसे ही साधन करना शुरू कर दिया, सो अच्छा ही किया। इस समयकी साधनसम्बन्धी स्थिति यह लिखी कि न तो ठीक साधनका ही निर्माण हुआ और न इन्द्रिय तथा मन ही वशमें हुए, सो इन्द्रिय तथा मन वशमें न होनेके कारण ही साधनके होनेमें कमी रह रही है। अतः गीता (अ० ६ श्लोक ३५) के अनुसार इन्द्रिय एवं मनको अभ्यास तथा वैराग्यके द्वारा वशमें करना चाहिये। भगवान्‌के सिवा किसी भी सांसारिक पदार्थमें मन-इन्द्रियाँ जायँ तो उसको नाशवान्—क्षणभङ्गुर समझकर उसमें रमण नहीं करना चाहिये। (गीता अ० ५ श्लोक २२ देखें) भगवान्‌के सिवा सब वस्तुओंमें रागके अभावका नाम ही 'वैराग्य' और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जप-ध्यानकी सतत चेष्टाका नाम ही 'अभ्यास' है।

भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर आपको विश्वास है, सो बहुत ही उत्तम बात है। आपने यह भी लिखा कि 'भगवान् कृपा तो करेंगे ही, अतः मैं मनमानी कर लिया करता हूँ', सो आपको मनके वशमें होकर मनमानी क्रिया नहीं करनी चाहिये। यही पतनमें हेतु है। मनको अपने वशमें करके भगवान्‌के आदेशानुसार साधन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

आपने लिखा कि मैं सोचता तो बहुत हूँ, किंतु कुछ भी कर नहीं पाता, सो इसमें आपके श्रद्धा और विश्वासकी कमी है; अतः श्रद्धा-विश्वास बढ़ाना चाहिये। श्रद्धा-विश्वास बढ़नेपर साधनमें तीव्रता हो सकती है।

आपने लिखा कि मेरी वासनाएँ अभी शान्त नहीं हुई हैं, सो इसके लिये संसारके पदार्थोंमें दुःखबुद्धि, अनित्यबुद्धि एवं त्याज्यबुद्धि करके उनसे वैराग्य करना चाहिये।

आप दिन तथा रातके समय नींदके सिवा सदा भगवान्‌के नामका जप करते रहते हैं, सो उत्तम बात है। उस समय आपका मन इधर-उधर भटकता रहता है, सो भगवान्‌का नाम लेनेमें रसानुभूति करनी चाहिये। जब जप करनेमें एक प्रकारका रस आने लग जायगा, तब अपने-आप ही इस काममें मन लग सकता है।

जप किस मन्त्रका किया जाय, इस बातको लेकर आपके मनमें जो भिन्न-भिन्न शङ्काएँ उठती हैं, सो ऐसा होना आश्चर्यकी बात नहीं है। मन्त्र-दीक्षाके सम्बन्धमें लिखा, सो दीक्षा देनेकी न तो मुझमें योग्यता है और न मेरा अधिकार ही है। हाँ! मित्रता एवं प्रेमके नाते मैं आपको सलाह दे सकता हूँ। कलियुगमें षोडश नाम-मन्त्रकी शास्त्रोंमें विशेष महिमा आती है।

अतः आपको—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'

—इस षोडश नाम-मन्त्रका जप अधिक-से-अधिक संख्यामें करना चाहिये। श्रीतुलसीदासजीने रामायणमें रामनामकी विशेष महिमा गायी है। आपकी श्रद्धा एवं रुचि रामनामपर हो तो केवल 'राम' नामका जप कर सकते हैं।

'आप किस मन्त्रका जप करते थे' पूछा, सो ठीक है, किंतु यह व्यक्तिगत बात है। अपना जप-मन्त्र गुप्त ही रखना चाहिये; अतः लिखनेमें असमर्थता है। आपके लिये षोडश नाम-मन्त्र या रामनाम ही ठीक है। आप इनमेंसे किसीका जप कर सकते हैं।

आपने अपनेमें श्रद्धा, प्रेम, भक्ति आदि सबका

अभाव लिखा, साथ ही भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा भी लिखी, सो यह इच्छा करना बहुत उत्तम है। इस इच्छाको खूब बढ़ाना चाहिये। जब भगवान्‌के मिले बिना रहा ही न जाता, तब अविलम्ब ही भगवान् प्रकट होकर साक्षात् दर्शन दे सकते हैं। इसमें कुछ भी संशय नहीं है। केवल भगवान्‌को प्राप्त करनेकी सच्चे मनसे तीव्र इच्छा होनी चाहिये; फिर श्रद्धा, भक्ति और प्रेम अपने-आप ही हो जाते हैं।

वेद, उपनिषद् और यज्ञमें यज्ञोपवीतधारी द्विजातिका ही अधिकार है। इनमें शूद्र और स्त्रियोंका अधिकार नहीं है।

आप क्षत्रिय हैं, आपके अभीतक यज्ञोपवीत नहीं हुआ है तो यज्ञोपवीत-संस्कार करा लेना चाहिये।

××× यह आपका लिखना ठीक ही है कि सत्सङ्गके बिना शिथिलता आ जाती है। इसीलिये वर्षमें चार मास ऋषिकेशमें सत्सङ्गका आयोजन किया जाता है।

आपने अपनेपर कृपा करनेके लिये लिखा, सो हमारेमें कृपा करनेकी सामर्थ्य है ही कहाँ? कृपा तो भक्तवत्सल, कृपानिधान भगवान् ही कर सकते हैं और उनकी कृपा सबपर है ही। जो अपनेपर जितनी कृपा माने, वह उतना ही लाभ उठा सकता है; अतः अपनेपर उनकी अधिक-से-अधिक कृपा माननी चाहिये। भगवान्‌की कृपाका वर्णन करते हुए आपने स्वयं लिखा कि अत्यन्त पापी होते हुए भी मुझे भगवान्‌ने मनुष्य-शरीर दिया और इसपर भी कृपा करके सत्सङ्ग प्राप्त करा दिया, मोक्षकी इच्छा भी जाग्रत् कर दी तथा साधन भी मालूम करा दिये एवं रात-दिन कृपाकी वर्षा करते ही रहते हैं, सो आपका इस प्रकार मानना बहुत ही उत्तम है। अबतक इतना होते हुए भी ठीक रास्तेपर न आ सकनेका कारण पूछा, सो कारण तो श्रद्धाकी कमी ही है। भगवान्‌की कृपाविषयक जो बातें आपने लिखी हैं और मैंने उद्धृत की हैं, उन बातोंपर आपका दृढ़ विश्वास होना चाहिये। श्रद्धा और विश्वास होनेपर सारी कमियोंकी पूर्ति हो सकती है। भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब होनेका हेतु अश्रद्धा ही है। इसके लिये शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरण लेकर उनकी प्राप्तिके लिये तत्परतासे साधनमें लग जाना चाहिये; फिर उनकी कृपासे सब कुछ हो सकता है। सबसे यथायोग्य।

(३)

सादर हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला। कीर्तनमण्डलियोंका तो एकमात्र उद्देश्य भगवन्नामप्रचार होना चाहिये, उसमें वाद-विवादको स्थान कहाँ? वाद-विवाद तो वहीं होता है जहाँ प्रचारका उद्देश्य अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना हो या लोगोंको रिझाकर उनसे कुछ प्राप्त करना हो। जिस मण्डलीका ऐसा उद्देश्य है, वह कहनेके लिये कीर्तन-मण्डली भले ही हो, पर वास्तवमें उसे सङ्गीत-मण्डली कहना चाहिये।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) कीर्तन देवालयमें न होकर घरमें हो तो भी कोई हर्ज नहीं है। कीर्तनके साथ मानसकी चौपाइयोंका बोलना भी उत्तम है, पर चौपाई भावपूर्ण हों। चौपाईके साथ कजली आदिकी तुक न लगाकर 'जय सीताराम' आदि भगवन्नामकी तुक लगानी चाहिये; क्योंकि कीर्तन तो वास्तवमें भगवान्‌के नाम-रूप और गुण-प्रभावका ही करना है। राग-रागिनी मात्रका नाम कीर्तन थोड़े ही है, उसका नाम तो संगीत है।

(२) रामायण बोलते-बोलते थक जानेपर विश्राम लेना तो कोई बुरी बात नहीं है, पर विश्रामके समय भी भगवान्‌के गुण-प्रभावकी ही चर्चा होनी चाहिये, व्यर्थ बातों या बाजोंकी धुनमें समय नष्ट नहीं करना चाहिये। रामायणकी जिन चौपाइयोंको बोला जाय, उनके अर्थपर विचार-विमर्श हो तो वह और भी अच्छा है।

(३) रामायण और कीर्तनके समय यदि पेशाबकी

हाजत हो जाय तो बाहर जाकर पेशाब कर आना कोई बुरी बात नहीं है। धूम्रपान तो वस्तुतः तामसी ही है, उसका तो त्याग ही उत्तम है। बाहर जाते समय सभ्यतापूर्वक चुपकेसे जाना और आना चाहिये, जिससे बैठे हुए लोगोंमेंसे किसीको भी न तो कष्ट हो और न किसीका अपमान ही हो।

(४) कीर्तनके साथ सिनेमाके गानेका सम्बन्ध कतई नहीं जोड़ना चाहिये। जिस मण्डलीका उद्देश्य भगवान्‌के नाम-रूप और गुण-प्रभावका कीर्तन करना है, उसे विषयवासनाको बढ़ानेवाले गाने और रागोंकी क्या जरूरत ? उसे तो भगवान्‌में प्रेम बढ़ानेवाले भावपूर्ण गाने गाना चाहिये। वे यदि पूर्वके संतोंके द्वारा रचे हुए हों तब तो बहुत ही ठीक है और यदि किसी वर्तमान अनुभवी संतके बनाये हुए हों तो भी अच्छा ही है। विषयासक्त लोगोंके कहने या दबाव डालनेपर अपने उद्देश्यके विपरीत गाना गानेकी कोई जरूरत नहीं है।

(५) कीर्तनके बीचमें यदि कोई दूसरा व्यक्ति सिनेमाका गाना आरम्भ कर दे तो उसे नम्रतापूर्वक अवश्य रोक देना चाहिये। साँवलियाका अर्थ श्रीकृष्ण लगाना कोई अनुचित नहीं है, पर गानेका भाव दूषित और कामोत्तेजक हो तो नहीं गाना चाहिये।

(६) कीर्तनसमाजके सदस्यका कीर्तन समाप्त होनेके पहले बीचमें सिनेमाका गाना आरम्भ कर देनेवाले-को रोकना अनुचित नहीं है। पर वह रोकना सभ्यता, विनय और प्रेमके साथ शान्तिपूर्वक होना चाहिये, अपमानपूर्वक या द्वेषकी भावनाको लेकर नहीं।

(७) शास्त्रीय इतिहासके आधारपर किसी भक्तकी गाथा गीतके रूपमें रची गयी हो और उसका भाव भगवान्‌में प्रेम बढ़ानेमें सहायक हो तो उसका गाना अनुचित नहीं है। उसको कीर्तनका रूप भी दिया जा सकता है, यदि उसमें भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और गुण-प्रभावका वर्णन हो।

(४)

आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। आपने पत्रके अन्तमें लिखा है कि इस पत्रका उत्तर जयदयालजी गोयन्दका ही दें, इसलिये आपको ज्ञात कराया जाता है कि मैं पत्रका उत्तर स्वयं नहीं लिख सकता, मेरी आँखें कमजोर हैं और समय भी कम मिलता है। उत्तर दूसरेसे लिखवाकर उसे सुन लिया करता हूँ, अतः इसीसे आप-को संतोष करना चाहिये।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

पुराणोंमें देवताओं और अन्य महान् व्यक्तियोंके जन्म तथा चरित्रोंमें उनकी कथाओंमें बहुत हेर-फेर आता है, यह बिल्कुल ठीक है तथा आलोचकोंने मनुष्य-जातिको नास्तिकताकी ओर खींचनेका प्रयत्न किया, यह भी ठीक है। भगवान्‌की माया दुस्तर है, यह भी आपका कहना ठीक है। कुछ महानुभावोंने जो इसका उत्तर कल्पभेद-से बताया, उनका कहना भी निराधार नहीं है।

आपने इस विषयमें यह शङ्का की कि यदि कल्प और युगका भेद है तो उनके पूर्वजों एवं अन्य परिजनों-में भेद क्यों नहीं हुआ, सो उन सबमें भी भेद हुआ है, नामभेद कम है, पर व्यक्तिभेद बहुत हैं। रामका अवतार प्रत्येक त्रेतायुगमें हो यह कोई निश्चित नहीं है, परंतु बहुत-से त्रेतायुगोंमें रामका अवतार हुआ हो और उनकी कथाओंका मिश्रण हो गया हो, इसमें भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। तुलसीदासजीने तो स्पष्ट ही कहा है कि मैंने यह कथा भिन्न-भिन्न पुराणोंमेंसे संकलित करके लिखी है, अतः इसे सुनकर किसीको आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

इसी प्रकार अपनी-अपनी रुचिके अनुसार पूर्वके कवियोंने ये कथाप्रसंग लिखे हों और रुचिभेदके अनुसार कथाभेद हो गया हो तो ऐसा होना भी असम्भव नहीं है।

भागवतमें चौबीस अवतारोंके वर्णनमें व्यासावतारका वर्णन तो कृष्णावतारके समय आता है और शान्तनु-की स्त्री सत्यवतीकी कुमारी-अवस्थामें, जब उसका नाम मत्स्यगन्धा था, पराशरजीके सकाशसे वेदव्यासजीका जन्म हुआ था। रामावतारसे पहले जो यह कथा आती है कि व्यासजीके भेजे हुए शुकदेवजी जनकके यहाँ गये हैं, वहाँ व्यास-जन्मकी कथा किस प्रकार आती है आपको मालूम हो तो लिखें। इससे यह तो पता लग ही जाता है कि त्रेताके और द्वापरके व्यासजी अलग-अलग थे।

महाभारतमें जो परशुरामद्वारा सर्वस्व-दानकी कथा है वह किस कालकी और कहाँकी है, यह देखना चाहिये। महाभारत, वनपर्वमें तो रामावतारकी भी कथा आती है, वह त्रेतायुगमें प्रकट हुए रामचन्द्रजीकी ही है, द्वापरकालका चरित्र नहीं है, त्रेतायुगकी घटनाका वर्णन है।

गुरु द्रोणाचार्यने परशुरामजीसे बाणविद्या सीखी, भीष्मजीने भी उनसे बाणविद्या सीखी, यह तो ठीक है; पर इससे उन्होंने जो बहुत पहले इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियहीन कर दिया था और पृथ्वीको दानमें दे दिया था, उससे कोई विरोध नहीं है। उन्होंने जो कश्यपजी-को पृथ्वीका दान किया था, यह घटना रामावतारके भी पहलेकी है। उसका उल्लेख महाभारतमें होनेसे वह द्वापरकी घटना नहीं हो जाती।

भगवान् रामके विवाहके बाद परशुरामजी तपके लिये महेन्द्राचलपर चले गये थे, इसमें भी कोई विरोध नहीं है; क्योंकि उनके सर्वस्व-दानवाली घटना तो उसके भी पहलेकी है।

रामचरितमानसमें जो सतीके सीताका रूप बनानेकी कथा है, वह बहुत पुरानी कथा है—यह वहाँके वर्णनसे ही स्पष्ट है। वर्तमान कलियुगके पहले जो द्वापर और त्रेतायुग हुए हैं, उनकी वह कथा नहीं है; क्योंकि उसके बाद तो शिवजीकी समाधि बहुत कालतक रही। फिर सतीका जन्म पार्वतीके रूपमें हुआ, शिवजीसे उसका विवाह हुआ। उसके बाद काकभुशुण्डिका प्रसङ्ग आरम्भ करके शिवजीने रामकथा पार्वतीको सुनायी। काकभुशुण्डिको कितने कल्प बीत चुके, इन सब बातोंसे सतीका दग्ध सत्ययुगमें होना विरुद्ध नहीं पड़ता; क्योंकि त्रेताके बाद द्वापर, कलियुग व्यतीत होनेपर जो सत्ययुग आया उसमें सती-दग्ध हुआ है, यह भी वहाँके प्रसंगसे स्पष्ट होता है।

अन्तमें आपने लिखा कि वर्तमान युगमें कई ऐसे भक्त हो चुके हैं तथा अभी भी मौजूद हैं जिनको भगवान्‌के दर्शनोंका अवसर प्राप्त हुआ है तो क्या वे लोग इन प्रश्नोंका सही उत्तर उनसे प्राप्त नहीं कर सकते? सो इसका उत्तर कौन दे? मेरी समझमें यह आता है कि जिनको भगवान्‌की मधुर-मूर्तिका दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हो जाय, वे तो उनके प्रेममें इतने मुग्ध हो जाते हैं कि उनके मनमें तो ऐसी शंकाएँ पैदा ही नहीं होतीं, फिर पूछे कौन?

जो लोग ऐसा दावा करते हैं कि अमुक देवताको मैंने वशमें कर लिया है, उनमें अधिक लोग तो ठग होते हैं, जो भोले भाइयोंको भ्रममें डालकर ठगते रहते हैं। इसके सिवा जो देवता मनुष्यके वशमें हो जाता है, वह बेचारा इन प्रश्नोंका उत्तर ही क्या देगा? उसको पता ही क्या? क्योंकि वह सर्वज्ञ तो होता ही नहीं; पितरोंकी सामर्थ्य तो बहुत कम होती है।

(५)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र यथासमय मिल गया था। उत्तर देनेमें विलम्ब हो गया, सो किसी भी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये।

(१) मनुष्य-शरीर मिलना बड़ा कठिन है। यह आपका लिखना ठीक है। इस बातको समझकर मनुष्यको चाहिये कि इस अमूल्य जीवनका एक क्षण भी व्यर्थ न खोवे।

(२) आपकी परिस्थिति, अवस्था आदि सभी बातें मालूम हुईं। यदि आपको घरका झगड़ा मिटाना है, सबके साथ प्रेम करना है तो आपको चाहिये कि किसीसे भी अपने मनकी बात पूरी करनेकी आशा न रक्खें। किसी-पर भी अपना कोई अधिकार न मानें। घरवालोंके जो मनकी बात धर्मानुकूल हो, जिसको आप कर सकते हों, उसे पूरी करनेमें गलती न करें। बड़े उत्साह, प्रेम और परिश्रमके साथ उनके मनकी बात पूरी करते रहें। दूसरा कोई अपना कर्तव्य पालन करता है या नहीं, उसकी ओर न देखें। किसीके भी दोष न देखें। जो कोई आपके प्रतिकूल व्यवहार करे उसे भगवान्‌का कृपायुक्त मङ्गलमय विधान मानें, दूसरे किसीका भी दोष न समझें। अपना कर्तव्य पालन करनेमें न तो आलस्य करें, न प्रमाद करें। ऐसा करनेसे सबसे आपका प्रेम हो सकता है। आसक्ति और ममता मिट सकती है। परम शान्ति और परम सुख भी मिल सकते हैं।

(३) यदि आप अपना उद्धार चाहते हैं तो एकमात्र प्रभुको ही अपना मानना चाहिये। भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास करके उनको अपना परम सुहृद् मानकर उनपर निर्भर हो जाना चाहिये तथा निरन्तर उनका ही भजन-स्मरण करना चाहिये एवं जो कुछ करे उसे उनका ही काम समझकर उनके आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये करते रहना चाहिये।

(४) पण्डितजीने आपको जो एक श्लोक लिखकर दिया है वह भी ठीक है। शिवकी उपासना करनेके लिये चल सकता है पर साथ ही यह विश्वास अवश्य होना चाहिये कि शिवजी ही सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ हैं। वे ही परब्रह्म परमात्मा हैं।

(५) आप कल्याणके ग्राहक हैं, रोज पढ़ते हैं सो अच्छी बात है। उसमें लिखी हुई बातोंमें जो आपको अच्छी लगें, जिनपर आपका विश्वास हो, जिनमें रुचि हो, जिन्हें आप पालन कर सकें उन्हें काममें लावें और अपना जीवन साधनयुक्त बनावें। तभी मनुष्यजीवन सार्थक हो सकता है।

(६) भगवान्‌का भजन ध्रुवकी भाँति वनमें जाकर ही करना पड़े, ऐसी बात नहीं है। प्रह्लादकी भाँति कठिन गृहस्थमें रहकर भी भजन किया जा सकता है। भगवान्‌पर विश्वास हो और भजन करनेकी तीव्र इच्छा हो तो अम्बरीषकी भाँति घरमें रहकर भजन बड़ी सुगमतासे किया जा सकता है।

(७) सत्सङ्ग करनेके लिये पिताजीकी आज्ञा न मिलनेके कारण ऋषिकेश न आ सके, तो कोई बात नहीं। इसके लिये विचार नहीं करना चाहिये। जब उनकी आज्ञा मिले तभी आना चाहिये। नहीं तो, वहीं रहकर 'कल्याण' और अच्छी पुस्तकोंद्वारा ही सत्सङ्गका लाभ उठाना चाहिये।

(८) गया हुआ समय लौटकर नहीं आता, यह सर्वथा सत्य है।

(९) अपनेको नीचा समझना, किसी प्रकारके गुणका अभिमान न करना बहुत अच्छा है।

(१०) भगवान्‌की कृपा तो सदैव सबपर है, जो जितनी मानता है उतना लाभ उठा लेता है। ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ भगवान् न हों।

(११) नाम-जप करते हुए भी भगवान्‌में प्रेम न होनेके कारण उनमें श्रद्धा तथा अपनत्व नहीं-जैसा है। आप उनके अतिरिक्त संसारको और शरीरको अपना मानते हैं, इसी कारण उनमें आसक्ति हो रही है। प्रेम बहुत जगह बँट गया है।

(१२) व्यर्थ स्वप्न न आवे, इसके लिये शयन करते समय भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए शयन करना बहुत अच्छा है।

(१३) गीता-पाठ, रामायणपाठ आदि सभी नित्य-

कर्म मन लगाकर श्रद्धा और प्रेमपूर्वक करना चाहिये, जिससे उसकी अवहेलना न हो।

(१४) आपको तीर्थ-भ्रमणसे शान्ति नहीं मिली, इसमें कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि एक तो आप घरवालोंसे पूछकर नहीं गये, दूसरे तीर्थोंमें उतनी श्रद्धा नहीं रही। भगवान्‌का भजन-स्मरण विश्वासपूर्वक किया जाय और माता-पिताकी सेवा कर्तव्य समझकर आदरपूर्वक की जाय, बदलेमें उनसे किसी भी प्रकारकी कामना न की जाय तो शान्ति मिल सकती है।

(१५) हिमालय जानेपर भी आपका मन तो आपके साथ ही रहेगा। वहाँ भी सब बात आपके मनकी हो और कोई आपको नहीं सताये, ऐसी बात नहीं है। प्रतिकूलता सब जगह रहेगी ही।

(१६) आपने फोटो मँगवाया, सो मैं न तो फोटो उतरवाया ही करता हूँ और न किसीको भेजता ही हूँ; अतः इसके लिये कृपापूर्वक क्षमा ही करनेकी कृपा करें।

(१७) भगवान्‌के दर्शन होनेमें विलम्ब हो रहा है, इसका एकमात्र कारण है श्रद्धा-प्रेमकी कमी। भगवान्‌के गुण-प्रभाव, तत्त्व-रहस्य-लीला-धामकी बातें सुनने और उनका मनन करनेसे ही भगवान्‌में प्रेम हो सकता है। प्रेमसे ही भगवान् प्रकट होते हैं।

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥

भगवान्‌के जबतक दर्शन नहीं होते, तबतक कमी-ही-कमी है। भगवान्‌के दर्शन न हों तो हृदयमें व्याकुलता हो जानी चाहिये। जिस क्षण ऐसी स्थिति हो जायगी कि भगवान्‌के बिना रहा नहीं जा सकेगा, उसी क्षण भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं।

(१८) प्रतिदिन क्या दान करना चाहिये—सो अपनी सामर्थ्यके अनुसार दान किया जा सकता है। गरीबों-अनाथों आदिकी निष्कामभावसे सेवा करना ही सबसे बड़ा दान है।

सबसे हरिस्मरण !

प्रेम-द्वादशी

मैं काकौं जानौं नहीं, ना मोहि जानै कोय।
तुम सों प्रीति लगी रहै, हम तुम जानैं दोय॥

प्रेम हृदै कौ गुपुत धन, परम अमोलक सोय।
बिबिध जतन करि राखिये ताहि हृदै महँ गोय॥

प्रेम अनन्य बिसुद्ध अति नित्य अखंड असेष।
प्रतिपल बढ़िबो ही करै अनुभव-रूप बिसेष॥

गोपल अलि गति प्रेम की हिय महँ रहै सुभाय।
ज्यौं ब्यापक सर्वत्र हरि, बाहेर कछु न जनाय॥

प्रेम अगाध उदधि सरिस अतिसय तल गंभीर।
बिरलै प्रहुँचै अतल तल, ठाढ़ रहैं सब तीर॥

प्रेमोदधि के अतल तल, जे जन पहुँचे जाय।
ते नहिं उछलंत कबहुँ फिरि रहत निमग्न सदाय॥

छुद्र सरित तनि पाइ जल उमगत बढ़त गुमान।
सब सरितन कौ नीर भरि बढ़त न जलधि अमान॥

छलकै मुलकै प्रीति जो ताकी हलकी जाति।
उच्च प्रेम गंभीर अति अमित उदधि की भाँति॥

अति पवित्र अति ही बिमल बिषय-बासना-हीन।
मोह-मैल नहिं रहत तहँ करि पावत न मलीन॥

बिषय-बासना जो बसी आइ हृदै के बीच।
तहाँ प्रेम नहिं जानिये, रह्यो काम-अरि नीच॥

जोगसिद्धि अरु ब्रह्म-पद गति न चहै निर्वान।
इंद्रिय-सुख कौं गनै को तम जिमि उदये भान॥

बिषय-बासना अंधतम जहँ न अमा निसि होत।
परम समुज्ज्वल प्रेम-रबि तेहि घट परगट होत॥

---

(२) आपकी परिस्थिति, अवस्था आदि सभी बातें मालूम हुईं। यदि आपको घरका झगड़ा मिटाना है, सबके साथ प्रेम करना है तो आपको चाहिये कि किसीसे भी अपने मनकी बात पूरी करनेकी आशा न रक्खें। किसी-पर भी अपना कोई अधिकार न मानें। घरवालोंके जो मनकी बात धर्मानुकूल हो, जिसको आप कर सकते हों, उसे पूरी करनेमें गलती न करें। बड़े उत्साह, प्रेम और परिश्रमके साथ उनके मनकी बात पूरी करते रहें। दूसरा कोई अपना कर्तव्य पालन करता है या नहीं, उसकी ओर न देखें। किसीके भी दोष न देखें। जो कोई आपके प्रतिकूल व्यवहार करे उसे भगवान्‌का कृपायुक्त मङ्गलमय विधान मानें, दूसरे किसीका भी दोष न समझें। अपना कर्तव्य पालन करनेमें न तो आलस्य करें, न प्रमाद करें। ऐसा करनेसे सबसे आपका प्रेम हो सकता है। आसक्ति और ममता मिट सकती है। परम शान्ति और परम सुख भी मिल सकते हैं।

(३) यदि आप अपना उद्धार चाहते हैं तो एकमात्र प्रभुको ही अपना मानना चाहिये। भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास करके उनको अपना परम सुहृद् मानकर उनपर निर्भर हो जाना चाहिये तथा निरन्तर उनका ही भजन-स्मरण करना चाहिये एवं जो कुछ करे उसे उनका ही काम समझकर उनके आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये करते रहना चाहिये।

(४) पण्डितजीने आपको जो एक श्लोक लिखकर दिया है वह भी ठीक है। शिवकी उपासना करनेके लिये चल सकता है पर साथ ही यह विश्वास अवश्य होना चाहिये कि शिवजी ही सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ हैं। वे ही परब्रह्म परमात्मा हैं।

(५) आप कल्याणके ग्राहक हैं, रोज पढ़ते हैं सो अच्छी बात है। उसमें लिखी हुई बातोंमें जो आपको अच्छी लगें, जिनपर आपका विश्वास हो, जिनमें रुचि हो, जिन्हें आप पालन कर सकें उन्हें काममें लावें और अपना जीवन साधनयुक्त बनावें। तभी मनुष्यजीवन सार्थक हो सकता है।

(६) भगवान्‌का भजन ध्रुवकी भाँति वनमें जाकर ही करना पड़े, ऐसी बात नहीं है। प्रह्लादकी भाँति कठिन गृहस्थमें रहकर भी भजन किया जा सकता है। भगवान्‌पर विश्वास हो और भजन करनेकी तीव्र इच्छा हो तो अम्बरीषकी भाँति घरमें रहकर भजन बड़ी सुगमतासे किया जा सकता है।

(७) सत्सङ्ग करनेके लिये पिताजीकी आज्ञा न मिलनेके कारण ऋषिकेश न आ सके, तो कोई बात नहीं। इसके लिये विचार नहीं करना चाहिये। जब उनकी आज्ञा मिले तभी आना चाहिये। नहीं तो, वहीं रहकर 'कल्याण' और अच्छी पुस्तकोंद्वारा ही सत्सङ्गका लाभ उठाना चाहिये।

(८) गया हुआ समय लौटकर नहीं आता, यह सर्वथा सत्य है।

(९) अपनेको नीचा समझना, किसी प्रकारके गुणका अभिमान न करना बहुत अच्छा है।

(१०) भगवान्‌की कृपा तो सदैव सबपर है, जो जितनी मानता है उतना लाभ उठा लेता है। ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ भगवान् न हों।

(११) नाम-जप करते हुए भी भगवान्‌में प्रेम न होनेके कारण उनमें श्रद्धा तथा अपनत्व नहीं-जैसा है। आप उनके अतिरिक्त संसारको और शरीरको अपना मानते हैं, इसी कारण उनमें आसक्ति हो रही है। प्रेम बहुत जगह बँट गया है।

(१२) व्यर्थ स्वप्न न आवे, इसके लिये शयन करते समय भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए शयन करना बहुत अच्छा है।

(१३) गीता-पाठ, रामायणपाठ आदि सभी नित्य-

कर्म मन लगाकर श्रद्धा और प्रेमपूर्वक करना चाहिये, जिससे उसकी अवहेलना न हो।

(१४) आपको तीर्थ-भ्रमणसे शान्ति नहीं मिली, इसमें कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि एक तो आप घरवालोंसे पूछकर नहीं गये, दूसरे तीर्थोंमें उतनी श्रद्धा नहीं रही। भगवान्का भजन-स्मरण विश्वासपूर्वक किया जाय और माता-पिताकी सेवा कर्तव्य समझकर आदरपूर्वक की जाय, बदलेमें उनसे किसी भी प्रकारकी कामना न की जाय तो शान्ति मिल सकती है।

(१५) हिमालय जानेपर भी आपका मन तो आपके साथ ही रहेगा। वहाँ भी सब बात आपके मनकी हो और कोई आपको नहीं सताये, ऐसी बात नहीं है। प्रतिकूलता सब जगह रहेगी ही।

(१६) आपने फोटो मँगवाया, सो मैं न तो फोटो उतरवाया ही करता हूँ और न किसीको भेजता ही हूँ; अतः इसके लिये कृपापूर्वक क्षमा ही करनेकी कृपा करें।

(१७) भगवान्के दर्शन होनेमें विलम्ब हो रहा है, इसका एकमात्र कारण है श्रद्धा-प्रेमकी कमी। भगवान्के गुण-प्रभाव, तत्त्व-रहस्य-लीला-धामकी बातें सुनने और उनका मनन करनेसे ही भगवान्में प्रेम हो सकता है। प्रेमसे ही भगवान् प्रकट होते हैं।

हरि व्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥

भगवान्के जबतक दर्शन नहीं होते, तबतक कमी-ही-कमी है। भगवान्के दर्शन न हों तो हृदयमें व्याकुलता हो जानी चाहिये। जिस क्षण ऐसी स्थिति हो जायगी कि भगवान्के बिना रहा नहीं जा सकेगा, उसी क्षण भगवान्के दर्शन हो सकते हैं।

(१८) प्रतिदिन क्या दान करना चाहिये— सो अपनी सामर्थ्यके अनुसार दान किया जा सकता है। गरीबों-अनाथों आदिकी निष्कामभावसे सेवा करना ही सबसे बड़ा दान है।

सबसे हरिस्मरण !

प्रेम-द्वादशी

मैं काकौं जानौं नहीं, ना मोहि जानै कोय।
तुम सों प्रीति लगी रहै, हम तुम जानैं दोय॥

प्रेम हृदै कौ गुपुत धन, परम अमोलक सोय।
विविध जतन करि राखिये ताहि हृदै महँ गोय॥

प्रेम अनन्य बिसुद्ध अति नित्य अखंड असेष।
प्रतिपल बढ़िबो ही करै अनुभव-रूप बिसेष॥

गोपन अति गति प्रेम की हिय महँ रहै सुभाय।
ज्यौं ब्यापक सर्वत्र हरि, बाहेर कछु न जनाय॥

प्रेम अगाध उदधि सरिस अतिसय तल गँभीर।
बिरलैं पहुँचै अतल तल, ठाढ़ रहैं सब तीर॥

प्रेमोदधि के अतल तल, जे जन पहुँचे जाय।
ते नहिं उछलंत कबहुँ फिरि रहत निमग्न सदाय॥

छुद्र सरित तनि पाइ जल उमगत बढ़त गुमान।
सब सरितन कौ नीर भरि बढ़त न जलधि अमान॥

छलकै मुलकै प्रीति जो ताकी हलकी जाति।
उच्च प्रेम गँभीर अति अमित उदधि की भाँति॥

अति पवित्र अति ही बिमल बिषय-बासना-हीन।
मोह-मैल नहिं रहत तहँ करि पावत न मलीन॥

विषय-बासना जो बसी आइ हृदै के बीच।
तहाँ प्रेम नहिं जानिये, रह्यो काम-अरि नीच॥

जोगसिद्धि अरु ब्रह्म-पद गति न चहै निर्वान।
इंद्रिय-सुख कौं गनै को तम जिमि उदये भान॥

बिषय-बासना अंधतम जहँ न अमा निसि होत।
परम समुज्ज्वल प्रेम-रबि तेहि घट परगट होत॥

श्रीश्रीपुरुषोत्तम

(लेखक—आचार्य श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय, एम्० ए०)

श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुन कहीं-कहीं श्रीकृष्णको 'पुरुषोत्तम' नामसे सम्बोधित करते हैं। इस सम्बोधनका कोई अर्थ है ? कोई विशेष उद्देश्य है ? अथवा नाम लेना है तो कोई नाम ले लिया ? श्रीमधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि इसका अर्थ है; गीतामें एक भी शब्द व्यर्थके लिये नहीं व्यवहार किया गया है।

यह शब्द गीतामें सबसे पहले प्रयोग किया गया है अष्टम अध्यायके प्रथम श्लोकमें, जहाँ अर्जुन कहते हैं—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।

इस पदकी व्याख्यामें मधुसूदन लिखते हैं—जिस ब्रह्मको 'ज्ञेय' कहकर निर्देश किया गया है वे कैसे हैं—सोपाधिक या निरुपाधिक ? आत्मा, अर्थात् देहको अवलम्बनकर उसी देहरूप अधिष्ठानमें जो रहता है वह अध्यात्म क्या है ? 'अध्यात्म' कहनेसे श्रोत्रप्रभृति इन्द्रियसमुदाय समझा जाय, या प्रत्यक्-चैतन्य (जीवात्मा) समझा जाय। 'अखिल कर्म'से इस जगहपर किस कर्मका उद्देश्य है, वह यज्ञ है या और कुछ ?—इस प्रकार प्रश्न करनेपर भगवान् कहीं यह न कह दें कि 'तुम जैसे हो मैं भी तो वैसा ही हूँ, तो तुम मुझसे क्यों प्रश्न करते हो ?' ऐसी शङ्काको दूर करनेके लिये अर्जुन पहले ही कहते हैं—'हे पुरुषोत्तम !' इस सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि 'आप सब पुरुषोंसे उत्तम हैं, श्रेष्ठ हैं, सुतरां आप सर्वज्ञ हैं, आप न जानते हों ऐसी कोई बात ही नहीं है।'

फिर यह शब्द आता है अध्याय १० श्लोक १५ में—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥

मधुसूदन इसका अर्थ लिखते हैं—सोपाधिक और निरुपाधिक उभय प्रकारका जो आपका स्वरूप है, उसे आप स्वयं ही जानते हैं। दूसरा कोई—न देव, न दानव आपके स्वरूपको जान सकता है। श्रीकृष्ण पूछ सकते हैं कि 'दूसरेके लिये जिसका जानना असम्भव है, मैं उसे कैसे जान सकता हूँ ?' ऐसा प्रश्न उठनेके पहले ही अर्जुन कहते हैं—'हे पुरुषोत्तम !' अर्थात् सब ही आपसे निकृष्ट हैं, उनके लिये आपको जानना असम्भव है; परंतु आप सर्वोत्तम हैं, इसलिये आपका जानना अवश्य सम्भव है। श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं—इस बातका समर्थन करनेके लिये उनको और चार पदोंसे सम्बोधित करते हैं—'हे सब भूतोंके पिता ! सब प्राणियोंके नियन्ता ! सब देवताओंके आराध्य ! समस्त संसारके पालन-कर्ता पति !'—इन सब विशेषणोंसे विशिष्ट जो आप हैं, सो आप ही पुरुषोत्तम हैं।

इसके पश्चात् यह शब्द आता है अध्याय ११, श्लोक ३ में, वहाँ अर्जुन कहते हैं—

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥

अर्थात् हे परमेश्वर ! आप अपनेको जिस प्रकार ऐश्वर्ययुक्त कह रहे हैं वह बात वैसी ही है। यद्यपि आपकी बातमें अविश्वासकी कोई आशंकातक नहीं है, तथापि हे पुरुषोत्तम ! मैं स्वयं कृतकृत्य होनेके लिये आपका जो ऐश्वर रूप है, अर्थात् ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसम्पन्न जो रूप है उसे देखना चाहता हूँ। यहाँ श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं और पुरुषोत्तम हैं। अर्जुनके कहनेका यह तात्पर्य है कि ऐश्वर्य वही दिखा सकते हैं जो परमेश्वर हैं; और पुरुषोत्तम कहनेसे यह सूचित होता है कि 'आपके वाक्योंका मुझे अविश्वास नहीं है और आपके ऐश्वर रूपके दर्शनका आग्रह है—यह तो आप जानते ही हैं; क्योंकि आप पुरुषोत्तम हैं,

अर्थात् सर्वज्ञ हैं।'

इसके अनन्तर पञ्चदश अध्यायमें भगवान् 'पुरुषोत्तम-योग' की व्याख्या करते हैं, जिसमें 'पुरुष' और 'पुरुषोत्तम' प्रधान विषय हैं। गीताशास्त्रमें पञ्चदश अध्याय 'गुह्यतम' शास्त्र है। पञ्चदश अध्याय गीता-ग्रन्थ-का मुकुटमणि है। इस अध्यायके प्रथम श्लोकके प्रथम शब्दमें इसके विषयका उपक्रम है। श्रीकृष्ण पहले ही कहते हैं 'ऊर्ध्व' अर्थात् उत्तम, यहाँपर तात्पर्य है उत्तम पुरुष, क्योंकि अव्यय अश्वत्थ वृक्षका मूल है पुरुषोत्तम। और उपसंहारमें है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।

पुरुषोंमें जो उत्तम पुरुष हैं उनका परिचय देते हुए भगवान् अपना नाम 'पुरुषोत्तम'की निरुक्ति समझाते हैं और कहते हैं कि 'जो ज्ञानवान् मनुष्य उनको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ है; क्योंकि उनको जानना ही सब कुछ जानना है—

एके विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।

इस अध्यायमें तीन पुरुषोंका उल्लेख आया है—

(१) क्षर पुरुष—जिन पदार्थोंका क्षय होता है उनको 'क्षर' पुरुष कहा है, जो विनश्वर और अनित्य हैं, नष्ट हो जानेवाले हैं। भगवान्ने अध्याय ८, श्लोक ४ में कहा है—'अधिभूतं क्षरो भावः' और यहाँ श्लोक १६ में कहा है—'क्षरः सर्वाणि भूतानि' अर्थात् भौतिक पदार्थ समस्त भूतवर्ग 'क्षर' हैं। श्रीधरस्वामी कहते हैं—'ब्रह्मादिस्थावरान्तानि शरीराणि'।

(२) अक्षर पुरुष—जिस वस्तुका क्षय नहीं होता, जो अविनाशी है, वह 'अक्षर' पुरुष है। भगवान्ने इसको 'कूटस्थ' कहा है, अर्थात् जिसमें कोई विकार नहीं होता, जो अपरिवर्तनशील है। यही क्षर पुरुषका उत्पत्तिस्थान है, इसमें उसका बीज निहित है, जिसका प्रवाह अनन्त होनेके कारण यह 'अक्षर' है। सो एक दृष्टिसे क्षर-पुरुष कार्य है और अक्षर-पुरुष कारण है।

सप्तम अध्यायमें भगवान्ने दो प्रकृतियोंका वर्णन किया है—एक 'अपरा' दूसरी 'परा'। यहाँ दो पुरुषोंका उल्लेख है—एक 'क्षर' दूसरा 'अक्षर'। एक दृष्टिकोणसे जो प्रकृति है, दूसरे दृष्टिकोणसे वही पुरुष है। भगवान्की शक्तिके जड और चेतनरूपमें अभिव्यक्तिको 'प्रकृति' कहा है तथा विनाशी और अविनाशी पदार्थोंके दो विभागोंको 'पुरुष' शब्दसे अभिहित किया है। दोनों भगवान्की उपाधियाँ हैं। भगवान् दिव्य पुरुष हैं, उनकी उपाधियोंको भी पुरुष कहा है। एक 'क्षर पुरुष' जिनमें समस्त विनाशशील, अनित्य पदार्थ हैं, जो विकारसम्पन्न हैं; दूसरे 'अक्षर पुरुष' जो अविनाशी हैं, नित्य पदार्थ हैं।

त्रयोदश अध्यायमें इन्हींका नाम 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' है। शरीरको क्षेत्र कहा है और यही क्षर पुरुष है तथा अक्षर पुरुष क्षेत्रज्ञ है, अर्थात् जीवात्मा है। कहनेके लिये तो जीवात्मा परमात्माका एक अंश है, परंतु परमात्मा अखण्ड चैतन्य सत्ता हैं, उनका अंश हो ही नहीं सकता। यह अंश उनकी माया-शक्तिके प्रभावसे जीवात्मा हुआ है, जैसे महाकाशका अंश घटाकाश होता है। इसलिये 'कूटस्थ' का अर्थ 'मायामें स्थित' लिया जा सकता है।

(३) उत्तम पुरुष—श्रीकृष्ण कहते हैं—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
(१५।१७)

अर्थात् उक्त कार्य और कारण स्वरूप दो पुरुषोंसे सम्पूर्ण विलक्षण और एक पुरुष हैं, जो 'उत्तम पुरुष' कहे जाते हैं। वे नित्य, शुद्ध, मुक्तस्वभाव चैतन्यस्वरूप हैं और 'परमात्मा' कहलाते हैं। वे भूः, भुवः, स्वः नामक त्रिलोकमें अनुप्रविष्ट होकर क्षेत्रज्ञरूपसे आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सबका नियमन और संरक्षण करते हैं; वे अव्यय हैं—सर्वविकारशून्य हैं; और ईश्वर हैं—सबके नियन्ता नारायण हैं।

ये उत्तम पुरुषके लक्षण हैं; और उनके सत्यस्वरूप हैं स्वयं भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण । उन्होंने कहा है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(१५ । १८)

क्योंकि मैं नाशवान् भूतवर्ग क्षेत्र या अश्वत्थ नामक मायामय संसार-वृक्षसे सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी क्षेत्रज्ञ या मायामें स्थित जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये त्रिलोकमें और वेदमें मैं 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ ।

इस प्रकार अपने नाम पुरुषोत्तमका निर्वचन समझाकर उनके इस नामके ज्ञानसे क्या लाभ होता है सो दिखाते हैं—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
(१५ । १९)

हे भारत ! जो मनुष्य असंशयचित्त होकर इस प्रकार तत्त्वसे मुझको पुरुषोंमें उत्तम—परब्रह्म—जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब भावसे—प्रेमलक्षणा भक्तियोगेन—मेरी आराधना करता है ।

'सब भावसे' भजन करनेका परिणाम आगे अ० १८ में श्रीकृष्णने सुन्दर ढंगसे व्यक्त किया है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(१८ । ६२)

हे भारत ! उस परमात्मा पुरुषोत्तमकी ही स्वभावसे मनसा, कर्मणा, वाचा—अनन्य शरणको प्राप्त हो; उसके ही अनुग्रहसे परम शान्ति और नित्य धाम परम पदको प्राप्त होगा ।

उक्त तीन पुरुषोंके अतिरिक्त इस अध्यायमें और एक पुरुषकी महिमा प्रकाश की गयी है । इस संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको वैराग्यरूप शस्त्रसे काटकर उस पुरुषकी खोज करना परम साधन है, क्योंकि इसी साधनसे मनुष्य पुनरावृत्तिसे छुटकारा पाता है । यह पुरुष संसारका निमित्तकारण है, इसलिये यह 'आदि पुरुष' है; और इसीकी किरणोंमें अव्यय अश्वत्थ वृक्ष फलता-फूलता—समृद्धिशाली होता है । भगवान्का उपदेश है कि साधन-तत्पर मनुष्यको संकल्पके सहित कहना चाहिये—

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।
(१५ । ४)

उसी आदिपुरुषके मैं शरणापन्न होता हूँ जिससे यह पुरातन संसारवृक्षकी उत्पत्ति और अभ्युदयका प्रवाह चला है । यह आदिपुरुष परम पद, परम धाम है; मनुष्यका प्राप्तव्य अव्यय पद है । भगवान् इसकी खोजके लिये कहते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ॥
(१५ । ४)

उसके उपरान्त—अर्थात् वैराग्यसे संसार-बन्धनको छिन्न करनेके उपरान्त, उस परम पदको अच्छी प्रकार—श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा खोजना चाहिये; क्योंकि उपनिषद्में कहा है—'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'—उसको खोजना है, उसको विशेषरूपसे जानना है । उस पदमें ज्ञानप्रभावसे प्रविष्ट होनेपर फिर 'पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्' नहीं प्राप्त होता है । अर्थात् वही 'शाश्वतम् पदमव्ययम्' लाभ होता है जो पुरुषोत्तमके सर्वभावेन पूजनसे प्राप्त है । अतः आदिपुरुष ही पुरुषोत्तम है ।

और एक महोदयके विचारके अनुसार विनाश या क्षरणभावात्मक जीव और क्षरण-हानि-भावात्मक सगुण-ब्रह्म या अक्षर—ये दो प्रकारके पुरुषोंसे एकान्त विलक्षण, सर्वभावातीत परम तत्त्व पुरुषोत्तम हैं, ये ईश्वरके ईश्वर हैं, एवं परमात्मा नामसे प्रसिद्ध हैं । इन्हींके विषयमें उपनिषद्का प्रवचन है—

पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।

सङ्गका प्रभाव

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

प्रभाव उसका पड़ता है, जिसका मूल्य अधिक बढ़ा दिया जाता है। मूल्य उसका बढ़ाया जाता है, जो अपने-आपको रुचिकर, प्रिय और सुखद प्रतीत होता है। इन्द्रियोंके माध्यमसे जो रुचिकर, प्रिय और सुखद लगता है, बुद्धिद्वारा विचार करनेपर वही अरुचिकर, अप्रिय और दुःखद सिद्ध हो सकता है। बुद्धिमान् पुरुष अपने ऊपर विवेक-बलद्वारा किसी भी विषय-सुख, वस्तु अथवा व्यक्तिका प्रभाव नहीं पड़ने देता; इसलिये वह किसीकी दासतामें नहीं बँधता। किसी भी मनुष्यपर जहाँतक सांसारिक सुख, वस्तु या व्यक्तिका प्रभाव पड़ चुका है, वहाँतक वह निस्संदेह लोभी, मोही तथा अभिमानी बन चुका है। इस तरहके प्रभावको मिटानेके लिये सद्गुरु महापुरुषोंका सत्सङ्ग करना चाहिये। महात्मा अथवा श्रद्धेय सद्गुरुका सत्सङ्ग करनेवालेको विचारपूर्वक देखना चाहिये कि यदि उसपर उनके बाह्य रूप तथा सुमधुर वाणीका प्रभाव है तो उनके दर्शनकी उसे बार-बार रुचि होगी; फलतः उनके शरीरसे उसका मोह होगा। चमत्कारों, वैभव अथवा विशाल आश्रमका प्रभाव पड़नेपर लोभकी पुष्टि होगी। बड़े-बड़े धनी-मानी शिष्योंको देखकर प्रभाव पड़ा है तो इससे अभिमान बढ़ेगा। वास्तवमें संत-महापुरुषोंके सत्सङ्गसे उनके तप, त्याग, ज्ञान और प्रेमका प्रभाव पड़ना श्रेयस्कर है। सद्गुरु अथवा महात्माके सत्सङ्गसे यदि कोई तपस्वी, त्यागी, ज्ञानी और निष्काम प्रेमी नहीं बन पाता तो समझना चाहिये कि उसे सद्गुरु, संत-महात्माका सत्सङ्ग मिला ही नहीं। महात्मा या गुरुके बाहरी रूप या बाह्य वेष तथा बाहरी बातोंसे मोहित होकर लोभी, मोही और अभिमानी बने रहनेवाले सहस्रों श्रद्धालु दीख पड़ते हैं; पर उनके तप, त्याग, ज्ञान और प्रेमको महत्त्व देने और अपनानेवाले बिरले ही विवेकी पुरुष हैं। जो व्यक्ति महात्मा अथवा गुरुदेवके तपसे मुग्ध होगा वह अपने जीवनको अवश्य ही तपस्वी बनायेगा। तपकी पूर्णताके लिये वह सुखोपभोगमें अनुरक्त न होकर दूसरोंकी सेवा तथा स्वधर्म-पालनके लिये कष्टसहिष्णु बनेगा। त्यागसे मुग्ध होनेवाला शिष्य अपने जीवनको त्यागमय बनानेके लिये राग-द्वेष और क्रोध-मोह आदि दोषोंको छोड़ देगा और प्रेमी, उदार, दयालु, विनम्र और शान्त होता जायगा। ज्ञान और प्रेमका मूल्य बढ़ाकर गुरुभक्त बननेवाला शिष्य असत् भोग-सुखोंसे विरक्त रहकर केवल सत्यको देखेगा और उसीका प्रेमी बनेगा।

जिससे लोभ, मोह, अभिमान और ईर्ष्या-द्वेषादि विकार बढ़ते हैं वही असत् सङ्ग है। जिससे राग-द्वेष मिटते जायँ; दया, उदारता, निरभिमानता, निर्मोहता, सरलता, निर्भयता, निश्चिन्तता और निरपेक्षता बढ़ती जाय; वही उत्तम अथवा सत् सङ्ग है। जितनी अधिकतासे कोई सम्मानका रस लेता है, मायाके संग्रहसे संतुष्ट होता है तथा विषयोंका उपभोग करता है, उतनी ही अधिक उसकी बुद्धि मलिन समझनी चाहिये। जितना अधिक तप तथा पुण्योंका योग है, उतना ही उत्कृष्ट भोग भी हो सकता है। यदि किसीको तप या पुण्यके फलसे अधिक धन-वैभव मिल गया और उसे उसके सदुपयोगका विवेक नहीं है तो उसका पतन दरिद्रता तथा विपत्तिकी ओर ही होगा। जो मनुष्य देखनेमें धनहीन है पर भीतर सद्गुणसम्पन्न—विवेकी है, वही वास्तवमें धनी है।

वही मनुष्य सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करता है, जो तपस्या, त्याग और सेवाको शक्ति, अधिकार तथा कर्तव्य समझता है। वही मनुष्य सद्गुण अथवा दैवी सम्पत्तिका धनी है, जो दोषीके सामने पराजित नहीं होता—अपने सद्गुणयुक्त व्यवहारसे विचलित नहीं होता। जो

मनको संयममें रखता है—जिसके मनमें काम, क्रोध, लोभ आदिविषयक दुर्बलताएँ नहीं रहतीं वही मनुष्य बलवान् है । जिसके लिये दया तथा क्षमा करना सदा सहज स्वभाव बन गया है और प्रत्येक परिस्थितिमें प्रसन्नता जिसका साथ नहीं छोड़ती, वही मनुष्य सच्चा प्रेमी है ।

अनुभूतिके गहरे तलपर उतरकर इसी निष्कर्षपर पहुँचना पड़ता है कि असत् सङ्ग—दुर्गुण सर्वथा त्याज्य है; सत् सङ्ग—सद्गुण सर्वथा ग्राह्य है। तप, त्याग, ज्ञान और प्रेमकी पूर्णताका प्राण सत्सङ्ग ही है; प्रत्येक क्षण जीवनपर सत्सङ्गका ही प्रभाव पड़ने देना चाहिये; यही श्रेय अथवा अपने कल्याणका सुगम और सहज मार्ग है ।

सहानुभूतिके दो मीठे शब्द !

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

एक समय एक कवि (Charles Mackay) बहुत उदास था, कारण यह कि उसे रुपयोंकी बहुत आवश्यकता थी । एक धनी व्यक्तिको ज्ञात हुआ कि कवि बहुत आर्थिक संकटमें है । उसे अपने धनका बहुत गर्व था । अतः उसने अपने धनद्वारा कविकी सहायता की; पर उसने जो मदद की, वह असहानुभूतिपूर्ण और बिना मीठे शब्दोंके बोले हुए थी । आर्थिक संकट टलनेपर कविने उसे बहुत धन्यवाद दिया और रुपया वापस लौटा दिया । इस प्रकार वह धनी व्यक्तिकी उदारताके अहसानसे मुक्त हुआ ।

कुछ समय पश्चात् वही कवि बीमार हुआ । उसके शरीरमें भयंकर पीड़ा थी, सिर दर्दसे फटा पड़ता था । वह शारीरिक और मानसिक पीड़ासे कराह रहा था । संयोगवश उसकी झोपड़ीके पाससे एक निर्धन व्यक्ति निकला । उसे कविकी बीमार अवस्थापर दया आ गयी । उसने उसके सिरको बाँधा, दबाया, प्यारसे दवा लगायी । रात-दिन रोगीकी शय्याके सिरहाने बैठकर सेवा-शुश्रूषा की । सहानुभूतिभरे मीठे-मीठे शब्द बोलकर पीड़ा कम की । उसके इस मधुर व्यवहार और सहानुभूतिपूर्ण प्रेम-चिकित्सासे कवि स्वस्थ हो गया । कवि कहता है, 'प्रथम धनी व्यक्तिको रुपया वापस करके मैं उसके अहसानसे मुक्त हो गया था, पर इस दूसरे उदार निर्धन व्यक्तिके सहानुभूतिपूर्ण मीठे-मीठे शब्दोंका अहसान मैं कैसे चुकाऊँ ? रुपया, सोना, हीरे, मोती बहुमूल्य हैं, परंतु ईश्वरकी देनके रूपमें मनुष्यके हृदयमें रहनेवाली यह दैवी सहानुभूति रुपये-पैसोंकी अपेक्षा कहीं महान् और प्रभावोत्पादक है । मानसिक रोगोंकी अमोघ औषध है ।'

सहानुभूति वास्तवमें महान् दैवी औषध है ! यह देनेवालेको और जिसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किया जाता है, दोनोंको ही लाभ पहुँचानेवाली है । मनुष्यके गुप्त दुःखों, दलित इच्छाओं और मानसिक जटिलताओंका अन्त करनेवाली है ।

वास्तवमें मानसिक क्षेत्रकी जटिलता, दुराव-छिपावसे बननेवाली मानसिक ग्रन्थियाँ और गुप्त दुःख ही हमारी निराशाके कारण हैं । हम दुखी इसीलिये रहते हैं कि मनमें व्यथाका भार छिपाये हुए हैं । हम अपनी परेशानियोंको जितना अधिक दूसरोंसे, समाजसे, अपने बड़े-बूढ़ों, बुजुर्गों, अफसरोंसे छिपाते हैं, उतनी ही जटिलता हमारे मानसिक क्षेत्रमें उत्पन्न होती जाती है । जैसे किसी वस्तुको छिपाकर अँधेरी कोठरीमें रखनेसे उसमें बदबू आने लगती है और वह सड़-गलकर नष्ट हो जाती है, उसमें कीड़े पड़ जाते हैं, उसी प्रकार जिन गंदे विचारों, वासनाओं, ईर्ष्या, तृष्णा, द्रोह, चिन्ता, भय आदि विकारोंको आप छिपाकर रखते हैं, वे मानसिक जटिलता उत्पन्न करते हैं । दुराव-छिपाव मानसिक रोगोंको उत्पन्न करता

है। इसके विपरीत जो युग-युगसे छिपे मनके दुरावको दूसरोंके समक्ष खोल देता है, वह उतनी ही मानसिक शान्ति प्राप्त करता है। उसकी विचारधारा उतनी ही स्पष्ट और स्वस्थ होती जाती है।

मनुष्य अपने कुचिन्तन और दुरावद्वारा मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न करता है। वास्तवमें जो बात छिपायी जाती है, वह स्वयं पापमय होती है। हम उसे छिपाते ही इसलिये हैं कि वह नीच है, झूठ है, पापमय है, दुष्कर्मसे संयुक्त है। हमारी अन्तरात्मा हमसे कहती है कि उसका फल दुःखदायी होगा। मनमें किसीके प्रति कटुभाव रखना एक खतरा है। चिन्ताके समान कोई अग्नि नहीं, द्वेषके समान कोई विष नहीं, क्रोधके समान कोई शूल नहीं, लोभके समान कोई जाल नहीं। ये दोष मनमें इकट्ठे होनेपर मनुष्य कुछ ही समयमें पापपङ्कमें डूब जाता है।

यदि मनुष्य अपने हृदयकी व्यथाको दूसरोंके समक्ष खोलकर रख दे और उनसे अपने कष्टोंके लिये थोड़ी-सी सहानुभूति पा ले तो उसे मानसिक शान्ति मिलती है। मित्र उसे दूषित भावनाओंसे बचाते हैं। कुचिन्तनकी शृङ्खला टूट जाती है और व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। जबतक मनुष्य अपनी मानसिक कठिनाइयोंको दूसरोंके समक्ष प्रकट करता रहता है, मित्रोंसे बातचीत करके सान्त्वना पाता रहता है, अपने-आपको समाजमें मिलाये रहता है, तबतक वे मानसिक जटिलता और परेशानीका कारण नहीं बनतीं; किंतु हम अपनी सभी भावनाओंको अपने मित्रोंके समक्ष प्रकट नहीं कर सकते; क्योंकि वे घृणित होती हैं। हमारी अन्तरात्मा कहती है कि वे उन्हें सुनते ही हमसे घृणा करने लगेंगे। इसी प्रकार हम अपने किये हुए गंदे कार्योंको दूसरोंसे कहते हुए डरते हैं। हम उन्हें दूसरोंके समक्ष स्वीकार करके हृदयका भार हलका कर सकते हैं; पर ऐसा उसीसे कर सकते हैं, जो हमारे साथ सच्ची सहानुभूति प्रदर्शित करे।

सहानुभूतिका अद्भुत कार्य ऐसे मानसिक रोगियोंमें स्वास्थ्य उत्पन्न करनेमें देखा जाता है। जो मानसिक चिकित्सक अपने मानसिक रोगियोंसे जितनी अधिक सहानुभूति दिखाता है, वह उतना ही उनका विश्वास प्राप्त कर लेता है और उसपर वे उतना ही अपना गुप्त पाप या दुःख प्रकट कर देते हैं। चिकित्सक अपने मीठे-मीठे सहानुभूतिपूर्ण शब्दों और व्यवहारोंसे उन्हें दुश्चिन्तनसे हटाकर शुभ चिन्तनमें निमग्न करता है।

महात्मा बुद्धने एक बड़े पतेकी बात कही है, जिसको आप सहानुभूतिसे ही कार्यरूपमें परिणत कर सकते हैं। वे कहते हैं—

'ढके हुएको खोल दो, छिपे हुएको स्पष्ट कर दो, तो तुम अपने पापोंसे मुक्त हो जाओगे; क्योंकि छिपानेसे ही पाप लगता है, उघड़ा हुआ पाप नहीं लगता।'

मनुष्य अपनी गुप्त बातें तभी प्रकट करता है, जब वह यह जान लेता है कि अमुक व्यक्ति मुझसे सच्ची सहानुभूति दिखायेगा। सहानुभूतिके दो मीठे शब्द पाते ही रोगी व्यक्ति अपने जटिल भाव अपने-आप प्रकाशित करने लगता है। सहानुभूतिका मृदु अवलम्ब पाते ही चेतना इनका अपना प्रकाशन नहीं रोक सकती। छिपे हुए दुःख तथा मानसिक ग्रन्थियाँ टूक-टूक होकर दूर हो जाती हैं। यदि हमारे बड़े लोग बच्चोंसे और अफसर अपने मातहतोंसे सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने लगें, तो सदा मानसिक आरोग्य बना रहेगा। सहानुभूति आन्तरिक गुलामीके बन्धन काट डालती है। जिन गुप्त भयों या पापोंसे मनुष्य बँधा रहता है, उनके बन्धन टूटते ही वह मुक्त गगनमें विहार करनेवाले पक्षीके समान सर्वतोमुख आनन्द प्राप्त करता है।

इस प्रसङ्गमें एक मनोविज्ञानविशारद सत्य ही लिखते हैं—मानसिक विकारको बाहर निकालनेमें सहानुभूतिका भाव बहुत ही लाभकारी होता है। रोगी उससे सहानुभूति रखनेवाले व्यक्तिके सामने अपने मनके छिपे भाव प्रकाशित कर सकता है। जो व्यक्ति रोगीसे घृणा

करता है अथवा उससे तटस्थ रहता है, उसके समक्ष रोगी अपने भाव कैसे प्रकाशित कर सकता है। पागलसे घृणा करनेवाले व्यक्तिको देखकर पागलका रोग और भी बढ़ जाता है। इसके प्रतिकूल सहानुभूति रखनेवाले व्यक्तिके समक्ष पागलका उन्माद कम हो जाता है। डॉ० होमरलेन ऐसे अनेक शेलशामके रोगियोंको चंगा कर सके, जो डॉ० फ्रायडकी विधिसे चंगे न हो सके थे। इसका प्रधान कारण डॉ० होमरलेनका रोगियोंके प्रति सहानुभूतिका भाव था। जहाँ डॉ० फ्रायड मनुष्यके मौलिक स्वभावको स्वार्थी और पाशविक मानते थे, डॉ० होमरलेन उसे दैविक मानते थे। इसलिये उन्हें रोगीके साथ सहानुभूति स्थापित करना आसान होता था। इस सहानुभूतिके कारण रोगी खुलकर अपने मनकी गाँठें और परेशानियाँ डॉ० होमरलेनके समक्ष खोल सकता था। रोगीके मनमें अन्तर्द्वन्द्व होनेके कारण ही रोगकी उपस्थिति होती है। जब उस अन्तर्द्वन्द्वका अन्त हो जाता है, तब रोगका भी अन्त हो जाता है। अन्तर्द्वन्द्व जबतक भीतर ही रहता है, तबतक रोगके बाहरी लक्षण नहीं दिखायी देते और जब वह बाहर आने लगता है, तब मानसिक रोगकी उपस्थिति होती है। जब चिकित्सक रोगीकी छिपी भावनाओंके प्रति सहानुभूति दिखलाता है, तब वे धीरे-धीरे अपने-आप बाहर आने लगती हैं। उनके बाहर आनेपर उसके चेतन और अचेतन मनमें एकता स्थापित होना सरल हो जाता है। वास्तवमें चिकित्सकके समक्ष अपने गुप्त भाव प्रकाशित करने और उसके द्वारा सहानुभूति प्राप्त करनेसे ही रोग-निवारण हो जाता है।

सहानुभूति ऐसी ही अमोघ औषध है; पर खेद है हम अपने दैनिक जीवन और व्यवहारमें इस दैवी भावका प्रयोग नहीं करते। जब मनोवैज्ञानिक चिकित्सक इसके प्रयोगसे पागलतकको अच्छा कर सकते हैं, तब तो हम अपने दैनिक जीवनमें इर्द-गिर्द आनेवाले व्यक्तिको इसके प्रयोगसे क्यों नहीं अपना बना सकते? हमें चाहिये कि उदारतासे सहानुभूतिका प्रयोग करें और व्यथित एवं पीड़ित मानवताके दुःख-दर्दको कम करते रहें।

कठोर व्यवहारसे मित्र भी शत्रु हो जाते हैं; पर सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार और वातावरणसे पत्थर-हृदय भी पिघल उठते हैं। कठोरतासे अच्छा आदमी भी आपके विरुद्ध विद्रोह करनेको उतारू हो जाता है, पर सहानुभूतिसे गुप्त शत्रुताके भाव भी दूर हो जाते हैं। सहानुभूति एक दैवी गुण है। इसे विकसित कीजिये।

महान् पुरुषोंके पास पैसा नहीं होता, न वे इसकी इच्छा ही करते हैं; क्योंकि उनका दया और सच्ची सहानुभूतिसे लबालब भरा हृदय उनके पास कुबेरके भंडारकी तरह मौजूद रहता है।

कहते हैं इस दुनियामें गरीबका कोई ठिकाना नहीं। यह बात गलत है; क्योंकि गरीबी मानवता और सच्ची सहानुभूतिके दिव्य गुणोंको विकसित करनेवाली है। एक गरीब दूसरेके प्रति सच्ची सहानुभूति दिखा सकता है। ईश्वरके दर्शन कौन करेगा? वही जिसके पास सहानुभूतिपूर्ण संवेदनशील हृदय है, जो दूसरोंके दुःख-दर्दमें काम आता है। कठोर व्यक्ति तो अपाहिज है; वह अपने समाजके इर्द-गिर्द रहनेवाले व्यक्तियोंतकसे प्रेम नहीं कर सकेगा। कोई उसके रंजो-गममें शामिल नहीं होगा।

जिनके हृदयमें दया और सहानुभूति है, वे कभी बिना मित्रोंके नहीं रहेंगे। इसलिये देखो और अपने मनमें सहानुभूतिको प्रथम स्थान दो, दूसरोंके प्रति प्रेम, दया और सहानुभूतिका व्यवहार करो।

तुम्हारे जीवनके जो क्षण व्यतीत हो रहे हैं, उनको मीठे प्रेममय सुन्दर और दूसरोंके प्रति सहानुभूतिपूर्ण विचारोंसे भरो।

दुखी और त्रस्त व्यक्तिको देनेके लिये यदि तुम्हारे पास रुपया नहीं है तो सहानुभूतिके दो मीठे शब्द उसे दो; वह तुम्हारा हो जायगा।

वाल्मीकि-रामायणमें श्रीभरतका चरित्र

(लेखक--परम सम्माननीय स्वर्गीय श्रीश्रीनिवासजी शास्त्री)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

श्रीरामका भरतमें अखण्ड विश्वास

श्रीरामका भरतमें अखण्ड विश्वास था। वनवासके लिये नगरसे निकलते समय जब प्रजागण उनके पीछे-पीछे आते रहे और रो-रोकर यह भी चिल्लाते रहे कि 'तुम्हीं एक हमारे आश्रय हो। लौट आओ। हमें किसी अन्यके आश्रयमें न छोड़ो।' आदि-आदि, तब श्रीराम उनकी ओर मुड़कर उनसे कहते हैं—

या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम्।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम्॥

(२ । ४५ । ६)

'जो प्रेम और सम्मान तुम्हारा मेरे प्रति है, जो स्नेह तुम मुझपर बरसा रहे हो, उससे अधिक स्नेह और आदर तुम मेरी प्रसन्नताके लिये भाई भरतको दो।'

स [illegible] कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः।
करिष्यति यथावद् वः प्रियाणि च हितानि च॥

(२ । ४५ । ७)

'कैकेयीके आनन्दको बढ़ानेवाला वह बड़ा सज्जन है। वह बड़ा पवित्रचरित्र है। वह सब कुछ अच्छी प्रकार करेगा। तुम्हें जो पसंद होगा और जो तुम्हारे लिये हितकर होगा, वही वह करेगा।'

क्या [illegible]ने कभी किसी राज-पाट छोड़कर जानेवाले राजाके मुखसे अपने उत्तराधिकारीके प्रति इस प्रकारके वचन सुने हैं?

ज्ञानवृद्धो वयोबालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः।

'संसारके ज्ञानकी दृष्टिसे वह वयोवृद्ध है, चाहे अवस्थामें वह कम ही हो। वह पराक्रमी होनेके साथ-साथ कोमल भी है।' क्या यह आश्चर्य नहीं है कि श्रीराम जो भरतसे केवल एक दिन ही वयमें बड़े हैं, उसे 'बाल' रूपमें सम्बोधन करें।

अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः॥

(२ । ४५ । ८)

'वह तुम्हारे सब दुःखों और कष्टोंको दूर करेगा तथा तुम्हारे योग्य स्वामी सिद्ध होगा।'

फिर श्रीराम जब लक्ष्मणसे बात करते हैं, तब कहते हैं—'क्या तुम यह सोच रहे हो कि हमारे माता-पिताको, जिन्हें हम पीछे छोड़ आये हैं, कठिन समय देखना पड़ेगा? नहीं! नहीं!'

भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे।
धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति॥

(२ । ४६ । ७)

'भरत बड़ा धर्मात्मा है। वह माता-पिताको धर्म, अर्थ एवं कामके अनुकूल वचनोंसे ढाढस बँधायेगा।' लक्ष्मण! तुम किसी भी प्रकारकी चिन्ता न करो। वे पूर्ण सुरक्षित हाथोंमें हैं।

भरतस्यानृश[illegible]सत्वं विचिन्त्याहं पुनः पुनः।
नानुशोचा[illegible] पितरं मातरं चापि लक्ष्मण॥

(२ । ४६ । ८)

'लक्ष्मण! जब मैं भरतकी कोमलताका ध्यान करता हूँ, तब माता-पिताके विषयमें सर्वथा निश्चिन्त हो जाता हूँ।' भरत भी उनकी उसी प्रकार देख-भाल करेगा जैसी कि मैं और तुम वहाँ होते तो करते।

अरण्यकाण्डमें जब लक्ष्मण कैकेयीके सम्बन्धमें कुछ कटु-कठोर शब्द कहते हैं, तब श्रीराम उन्हें एकदम रोक देते हैं और कहते हैं—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कथंचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥

(३ । १६ । ३७)

'अरे भले आदमी! तुम भरतके विषयमें बात करो। कैकेयीकी तुम्हें कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये।'

निश्चितापि हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढव्रता।

(३ । १६ । ३८)

'मैं वनमें चौदह वर्ष रहनेके लिये दृढ़व्रती और निश्चित-संकल्प हूँ।' पर जब मैं अपने बन्धु (भरत) का विचार करता हूँ, तब मेरा वह दृढ़व्रत भी कुछ शिथिल हो जाता है।

मैं उसके पास जाना और उससे मिलना चाहता हूँ ।

भरतस्नेहसंतप्ता बालिशीक्रियते पुनः ॥

(३ । १६ । ३८)

'भरतके स्नेहसे तपायी जाकर मेरी बुद्धि मूढ़ हो जाती है ।' तुम्हें स्मरण होगा कि जब हम पर्णकुटीमें थे, तब भरतने कैसे मीठे, सौहार्दपूर्ण और स्नेहयुक्त वचन हमें कहे थे । मैं तो उन्हें भूल ही नहीं सकता ।

संस्मराम्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणि च ।
हृद्यान्यमृतकल्पानि मनःप्रह्लादनानि च ॥

(३ । १६ । ३९)

'भरतके प्रिय, मधुर, अमृततुल्य एवं मनको आह्लादित करनेवाले वचन मुझे अच्छी तरह याद हैं ।' क्या-क्या उसने कहा था—

कदा त्वहं संमेष्यामि भरतेन महात्मना ।
शत्रुघ्नेन च वीरेण त्वया च रघुनन्दन ॥

(३ । १६ । ४०)

'ये वनवासके चौदह वर्ष कब समाप्त होंगे ? और क्या हम सब फिर एक बार एक परिवारकी तरह मिलेंगे ?'

अब जरा युद्धकाण्डपर भी दृष्टि डालिये । रावण मारा जा चुका है । विभीषणका लङ्काधिपतिरूपसे राज्याभिषेक हो चुका है । सीतासम्बन्धी भी अन्तिम दृश्य समाप्त हो गया है । श्रीराम अयोध्या लौटनेकी तैयारी कर रहे हैं । विभीषण उनसे एक या दो दिन और ठहरनेकी प्रार्थना कर रहा है । वह कहता है—'इतनी लम्बी दूर आने और मुझे इस राज्य-प्राप्तिमें सहायता करनेपर भी क्या आप मुझे कुछ घड़ियोंके लिये भी अपना आतिथ्य करनेका समय दिये बिना ही लौट जायँगे ? यह तो उचित नहीं है ।' श्रीराम उत्तर देते हैं—

पूजितोऽहं त्वया सौम्य साचिव्येन परंतप ॥
सर्वात्मना च चेष्टाभिः सौहृदेनोत्तमेन च ।

(६ । १२४ । १७-१८)

'आपने मुझे बहुत सम्मान दिया है । आपने अपनी अपूर्व मित्रताद्वारा सम्पूर्ण हृदयसे मेरी सभी बातोंमें सहायता-कर मेरी पर्याप्त श्रद्धा भी की है । इतना ही मेरे लिये पर्याप्त है । मुझे और अधिक आतिथ्य नहीं चाहिये ।'

न खल्वेतन्न कुर्यां ते वचनं राक्षसेश्वर ॥

(६ । १२४ । १८)

'मैं ऐसा क्यों कहता हूँ ? हे राक्षसाधिपति ! क्या आप यह सोच रहे हैं कि मैं आपके प्रति सद्भाव नहीं रखता ? आपके प्रति उदार नहीं हूँ ? आपका निमन्त्रण मुझे सहर्ष स्वीकार करना चाहिये । इसे अस्वीकार करते देखकर मुझे आप असभ्य या उजड्ड न समझें । बात इतनी ही है कि मैं अब अधिक विलम्ब नहीं कर सकता ।'

तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः ।
मां निवर्तयितुं योऽसौ चित्रकूटमुपागतः ॥
शिरसा याचतो यस्य वचनं न कृतं मया ।

(६ । १२४ । १९-२०)

'वह बेचारा भरत सारे राजमहल, प्रजागण और सेना-सहित मेरे पीछे-पीछे दौड़ा आया था और मुझसे जितनी भी वह कर सकता था, प्रार्थना भी की थी; परंतु मेरे हृदयकी कठोरता और संकल्पकी दृढ़ताके कारण मुझे उसे चित्रकूटमें 'नहीं' कहना पड़ा था । यही बात अब मुझे कष्ट दे रही है । मैं उससे मिलनेके लिये आतुर हो रहा हूँ ।'

भरतका माताके प्रति अनादर

अब मैं भरत-चरित्रके उस अंशका विचार करूँगा, जो श्रीरामके भाईके रूपमें उसका विचार करते हुए कभी भुलाया नहीं जा सकता । यह दृष्टि ऐसी है, जिसपर विचार करना सुखद नहीं है । न तो टीकाके रूपमें और न एक महान् चरित्रकी महत्ताको नष्ट करनेकी ही दृष्टिसे मैं उसका वर्णन करना चाहता हूँ । उसे वर्णन करते समय मेरा लक्ष्य बस, इतना बताना ही होगा कि कैसे कुछ व्यक्तियोंके मनमें की हुई बुराई या भलाईकी बात इतनी घृणा उत्पन्न कर देती है कि उनके सारे चरित्रकी समरागता ही उससे गड़बड़ा जाती है । मैं यह कहना चाहता हूँ कि भरतमें उस गुणका पूरा अभाव था, जिसका हम एक आज्ञाकारी पुत्रमें होना आवश्यक एवं अनिवार्य मानते हैं । यह सत्य है कि अपने पिताके प्रति उसकी पूर्ण भक्ति और आदर था । अपनी वृद्धावस्थामें उनका कैकेयीके इस प्रकार वशमें हो जाना ही उसे अच्छा नहीं लग रहा था और यह उसने कठोरतम शब्दोंमें व्यक्त भी किया था । परंतु मैं तो इस समय इसका नहीं, अपितु उसका अपनी माताके प्रति किये गये व्यवहारकी बात ही सोच रहा हूँ । हमें स्मरण रखना चाहिये कि कैकेयीके प्रति हिंदुओंकी पीढ़ी-दर-पीढ़ी घृणा और अप्रसन्नताका भाव व्यक्त करती आयी है । अपने पापका फल भी उसने खूब पा लिया ।

अपने जीवनमें भी उसे दुतकार-फटकार मिलनेमें कोई भी कसर नहीं रही थी। परंतु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि राजकीय षड्यन्त्र कोई अनोखी या असाधारण बात नहीं है। एक रानीका अपने ही पुत्रके लिये राज्य प्राप्त करनेका षड्यन्त्र करना बिल्कुल असाधारण नहीं है। यह खेदकी बात अवश्य है कि ऐसा षड्यन्त्र इक्ष्वाकुकुलमें हुआ और उसके प्रधान लक्ष्य श्रीराम हुए। परंतु यह भी तो आप जानते हैं कि कैकेयी पहले कितनी साध्वी थी। श्रीराम और भरत दोनों ही उसे बड़े एवं समान लाडिले थे। परंतु उसे एक चतुर षड्यन्त्रकारिणीने भ्रमित कर दिया। अयोध्याके राजमहलमें घटी घटनाका विवरण या परिचय मिलनेके पहले ही भरतने, जब कि वह अपनी ननिहालमें था, उस दूतसे, जो संदेश देने उसके पास आया था, कौसल्या, राम, लक्ष्मण आदि परिवारजनोंकी पूछ-ताछ की। ध्यान रहे कि उस दूतने भरतको सत्य घटनाका संकेत तक नहीं किया था। इतना भर कहा था कि 'चलिये, आपका वहाँ काम है।' और रवाना होनेके पहले ही जब उनका कुशल-क्षेम पूछा, तब भरतने प्रत्येककी सुन्दर शब्दोंमें ही स्मरण किया। कौसल्या और सुमित्राका उसने 'धर्मज्ञा' (२। ७०। ८-९) कहकर स्मरण किया। परंतु अपनी जन्मदात्रीकी कुशल-क्षेम पूछते हुए यद्यपि तबतक उसे उसकी करतूतका कोई संकेत भी नहीं मिला था, उसने उसके लिये उन शब्दोंका प्रयोग किया—

आत्मकामा सदा चण्डी क्रोधना प्राज्ञमानिनी।
अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह॥
(२। ७०। १०)

'आत्मकामा अर्थात् अत्यन्त स्वार्थिनी, जरा-जरा-सी बातपर क्रोध करनेवाली, अपने-आपको बड़ी प्राज्ञ समझनेवाली, ऐसी मेरी माताने क्या कहा है?' अब मैं आप सबसे पूछता हूँ कि चाहे आपकी माँ कैसी भी बुरी हो, चाहे आप उसके विषयमें कितने ही हल्के विचार रखते हों, फिर भी क्या आप उसके पाससे आनेवाले चर, दूत या संदेशवाहकसे उसके विषयमें इस प्रकार पूछेंगे? आप निःसंदेह ही इस प्रकार बात नहीं करेंगे। दूसरोंके विषयमें सत्य कथन करनेके लिये किसीको भी बाध्य नहीं किया जा सकता। अपनी माताके विषयमें सत्य बात कहना भी किसीके लिये आवश्यक नहीं है। बिना पूछे-ताछे कहना तो कदापि नहीं। इसलिये मैं तो इसे भरतकी एक चूक या भूल ही कहूँगा और इसके लिये मैं उसे क्षमा भी नहीं कर सकूँगा। चाहे कितनी भी दुष्टा माँ हो, उसके पुत्रको इस प्रकारका उसके प्रति बर्ताव कभी नहीं करना चाहिये। मैं यह नहीं कहता कि वह जगह-जगह उसकी निरर्थक ही प्रशंसा करता फिरे और वह भी झूठे मनसे। ऐसा वह अवश्य ही न करे। यदि कोई उसके प्रति बुरा-भला कहे तो वह चुप रह जाय, एक शब्द भी न बोले। परंतु आगे होकर उसके विरुद्ध जेहाद करना तो एकदम बुरी बात है।

घर लौटने और वहाँ उसके प्रति किये गये माताके कार्यका परिचय पानेपर वह उसका अक्षम्य शब्दोंमें तिरस्कार करता है। मैं यहाँ वे थोड़े-से श्लोक उद्धृत करूँगा, जो मुझे विशेषरूपसे खटके हैं।

त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः।
अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः॥
(२। ७४। ६)

'तुम्हारे ही कारण मेरे पिताकी मृत्यु हुई। रामको भी वनवास हुआ। तुमने मेरे नामपर सदा-सर्वदाके लिये कलंकका टीका लगा दिया।'

मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके।
न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि॥
(२। ७४। ७)

'तुम माताके रूपमें मेरी शत्रु हो, निर्दय हो, राज्यकी कामना रखती हो। ओ पतिहत्यारी! मुझसे अब अधिक बात मत करो।'

न त्वमश्वपतेः कन्या धर्मराजस्य धीमतः।

'तुम अश्वपतिकी कन्या नहीं हो। तुमने अपने पिताके परिवारके शुभ्र नामको भी नष्ट कर दिया है।'

राक्षसी तत्र जातासि कुलप्रध्वंसिनी पितुः॥
(२। ७४। ९)

'तुम राक्षसी हो। भूलसे उस परिवारमें तुम्हारा जन्म हो गया।'

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा दण्डकान् विश।

'तुम अग्निमें गिरकर क्यों नहीं अपने-आपको नष्ट कर देती हो? अथवा स्वयं दण्डकवनमें क्यों नहीं चली जाती?'

रज्जुं बधान वा कण्ठे न हि तेऽन्यत्परायणम्॥
(२। ७४। ३३)

'या गलेमें रस्सीका फंदा डाल लो। तुम्हारे लिये और कोई मार्ग नहीं है।'

अहमप्यवनिं प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे ।
कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासितकल्मषः ॥
(२ । ७४ । ३४)

'अब मैं श्रीरामको लौटा लाऊँगा और उनको पृथ्वीका राज्य दे दूँगा, तभी मेरा कर्तव्य पूरा होगा। इसी रीतिसे वह दाग जो तुमने मुझे, मेरे अच्छे नामपर लगा दिया है, मैं छुड़ाऊँगा।'

इसीके कुछ आगे ही फिर एक अभूतपूर्व घटना घटती है। मन्थरा, जिसे कैकेयीने उसकी सेवाके उपलक्षमें शरीरके प्रत्येक अङ्गपर पहने जानेवाले अपने आभूषण भेंट दे दिये थे, उन्हीं आभूषणोंको पहने हुए वहाँ उपस्थित होती है जहाँ कि शत्रुघ्न थे। द्वारपालने शत्रुघ्नको उसकी उपस्थिति-की सूचना दी। मन्थरा अपने आभूषणोंका, जो उसे अपनी दुर्बुद्धिके उपहारमें मिले थे, प्रदर्शन कर रही है। इसी समय यह दृश्य उत्पन्न होता है कि जो क्रोधावेशका परिणाम है, जिसमें मनुष्य अपने-आपको नियन्त्रण करना नहीं जानता। शत्रुघ्न स्वयं मन्थराके पास जाते हैं और उसकी चोटी पकड़कर उसे घसीटते हैं, उसके आभूषणादि रगड़ते हुए भूमिपर चारों ओर सुवर्णचिह्न कर देते हैं।

तस्या ह्याकृष्यमाणाया मन्थरायास्ततस्ततः ।
चित्रं बहुविधं भाण्डं पृथिव्यां तद् व्यशीर्यत ॥
(२ । ७८ । १७)

तेन भाण्डेन संकीर्णं श्रीमद् राजनिवेशनम् ।
अशोभत तदा भूयः शारदं गगनं यथा ॥
(२ । ७८ । १८)

मन्थराके शरीरपर सौ, दो सौ गहने होने चाहिये। नहीं तो, उनके गिरनेपर यह कैसे कहा जा सकता है कि तारोंभरे आकाशका टुकड़ा ही मानो टूटकर आ गिरा। मन्थराको छुड़ानेके लिये उसके साथी दौड़कर कैकेयीके पास गये और उससे प्रार्थना की। घटनास्थलपर तत्क्षण पहुँचकर कैकेयी मन्थराका यह कष्ट निवारण करनेका प्रयास कर रही थी। कैकेयीकी ओर देखे बिना ही उस समय भरत शत्रुघ्न-से कह रहे थे—

अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति ।
(२ । ७८ । २१)

'अरे इसे क्षमा कर दो। पृथ्वीके समस्त प्राणियोंमें स्त्रीको कभी नहीं सताना चाहिये।' कैकेयी भी प्रतिवाद करती खड़ी थी और भरत शत्रुघ्नसे कहते जा रहे थे—

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम् ।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ॥
(२ । ७८ । २२)

'इस दुष्टा कैकेयीको मारकर तो मैं भी प्रसन्न होता, यदि मुझे विश्वास हो जाता कि भाई श्रीराम माताको मारनेके कारण मुझसे घृणा नहीं करेंगे, भाई अप्रसन्न नहीं होंगे, यह मुझे भरोसा हो जाय तो मैं इसी स्थानपर इसका वध कर डालूँ।' निःसंदेह एक श्रद्धावान् पुत्र माताके लिये ऐसे शब्द प्रयोग नहीं कर सकता।

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः ।
त्वां च मां च हि धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम् ॥
(२ । ७८ । २३)

'यदि श्रीरामको यह मालूम हो जाय कि तुमने इस कुब्जाका वध कर दिया है तो वे जीवनभर तुमसे या मुझसे एक शब्द भी नहीं बोलेंगे।'

जब भरत भरद्वाज ऋषिके पास पहुँचते हैं, तब वे क्या करते हैं—यह भी देखिये। उन ऋषिको भी पहले भरतके आशयके प्रति संदेह होता है; परंतु भरतके आश्वासन देनेपर वे प्रसन्न होकर कहते हैं 'बहुत अच्छा ! मैं तो अब तुम सबसे विदा लेता हूँ।' दूसरे दिन भरत, शत्रुघ्न और सारा स्त्रीवर्ग ऋषिके चारों ओर खड़ा हो जाता है। एक-एक करके सभी भरद्वाजको वन्दन-नमन करते हैं। वहाँ भरद्वाज भरतसे पूछते हैं—'बताओ भरत ! इन स्त्रियोंमें कौन-कौन हैं ?' भरत कौसल्या एवं सुमित्राका बड़े सम्मानपूर्ण शब्दोंमें बारी-बारीसे ऋषिको परिचय कराते हैं, परंतु जब अपनी माता कैकेयीकी बारी आती है, तब कहिये क्या उसको इन शब्दोंका प्रयोग करना चाहिये—

यस्याः कृते नरव्याघ्रौ जीवनाशमितो गतौ ।
राजा पुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः ॥
(२ । ९२ । २५)

'जिसके कारण—जिसके दुराचरणसे नरव्याघ्र अर्थात् श्रीराम और लक्ष्मण जीवन-शेषतक पहुँच गये हैं, पिता दशरथ अपने प्रिय पुत्रसे वञ्चित कर दिये गये हैं और उस शोकको सहन न कर सकनेके कारण जिनकी मृत्यु भी हो

गयी है, यह वही है जिसके कारण ये सब दुर्घटनाएँ हुई हैं।'

क्रोधनामकृतप्रज्ञां दृप्तां सुभगमानिनीम्।
ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्यामार्यरूपिणीम्॥
(२। ९२। २६)

'मेरी माँ कैकेयी क्रोधी स्वभावकी, मूर्खा, अभिमानिनी, ऐश्वर्यकी लोलुप तथा देखनेमें भली होनेपर भी दुष्टा है।'

ममैतां मातरं विद्धि नृशंसां पापनिश्चयाम्।
यतो मूलं हि पश्यामि व्यसनं महदात्मनः॥
(२। ९२। २७)

'मेरी इस माँको निर्दय एवं पापपूर्ण निश्चयवाली जानिये। केवल इसीके कारण मेरे दुःखोंका अन्त नहीं हो रहा है।'

भरद्वाज पुत्रद्वारा माताका इस प्रकार परिचय पाकर स्वभावतः स्तम्भित रह जाते हैं। परंतु भविष्य ज्ञाताकी बुद्धिमत्तासे उसे कहते हैं 'वत्स! इसकी बुराई मत करो। तुम्हें ज्ञात नहीं है कि इसने क्या किया है। इसने विश्वकी भलाईका ही काम किया है। जो कुछ इसने किया है, उससे हम सबका कल्याण होनेवाला है। इसलिये इसके विषयमें इस प्रकार मत बोलो।' परंतु फिर भी भरत अपने मतमें कोई संशोधन नहीं करते, यद्यपि कैकेयीने अपने सुधारका प्रत्यक्ष परिचय भी दे दिया था। अब वह कैकेयी नहीं थी, जिसने राजा दशरथको अपने वैभवके उच्चासनसे दुःखोंके अंध कूपमें ला गिराया था। एक यह बात हो कि वह सबके साथ आर्या कौसल्या और सुमित्राके साथ एकही रथमें, जैसा कि कविने विशेषरूपसे कहा है, बैठी थी, इसका पर्याप्त प्रमाण है कि वह भी श्रीरामका पुनरावर्तन चाहती थी। इतना सब होते हुए भी भरतका हृदय किंचित् भी उसके प्रति नरम नहीं हुआ। इसीलिये श्रीरामके साथ महत्त्वपूर्ण बातें कहते हुए भी वह यह कह सका—

प्रोषिते मयि यत् पापं मात्रा मत्कारणात् कृतम्।
क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान् मम॥
(२। १०६। ८)

'जब मैं प्रवासमें था, मेरी उस नीचाशयी माँने मेरे लिये पाप किया है, विपदा ढहा दी है। इसके लिये मुझे क्षमा करें। मैं इसके लिये उत्तरदायी नहीं हूँ।'

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम्॥
हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम्।
(२। १०६। ९-१०)

'मैं अपने कर्तव्यसे, धर्मसे, हर तरह बँधा हूँ। इसीलिये अपनी इस पापिनी एवं सर्वथा दण्ड देने योग्य जननीका वध नहीं करता।'

ऐसी बात भरत स्वयं श्रीरामसे ही कहता है। इतना कह जानेपर और सब बातोंकी चर्चा कर लेनेपर फिर वह कहता है कि 'मेरी माताके कृत्योंसे आप किसी भी प्रकार परिचालित नहीं हों। भाई साहब! उन बातोंको आप अपने मनसे एकदम निकाल दें। मेरी माँ दुष्टा थी, पापिनी थी। उसने षड्यन्त्र रचा और सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। मैं उसको मार ही डालता पर धर्मसे डरता हूँ।'

श्रीराम एक बार और अपनी महत्ताका परिचय यहाँ देते हैं। वे कैकेयीके सम्बन्धमें पूर्ण आन्तरिकतासे बोलते हैं। आपको स्मरण होगा कि मैंने कुछ श्लोक आपको सुनाये थे, जिनके अन्तमें श्रीरामने यह कहा था—'कैकेयीको कोई हानि मत पहुँचाना। सीता और मेरे नामकी मैं तुम्हें गम्भीर शपथ दिवाता हूँ कि तुम न तो उनको बुरा-भला कहना, न सताना और न उनका किसी भी प्रकार निरादर करना।'

श्रीरामके द्वारा कैकेयीका समर्थन

अब हम उस अन्तिम दृश्यपर विचार करें कि जब अपने अर्धसफल अभिमानके पश्चात् मैं उसे असफल कहना अच्छा नहीं समझता —भरत अयोध्याको लौट रहा है। उस दृश्यका अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

तं मातरो बाष्पगृहीतकण्ठ्यो दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शेकुः।
स चैव मातृरभिवाद्य सर्वा रुदन् कुटीं स्वां प्रविवेश रामः॥
(२। ११२। ३१)

तीनों माताओंको भी लौटना था। इसलिये वे रामसे विदा माँगना चाह रही थीं। परंतु दुःख-शोकसे वे इतनी अभिभूत थीं कि कण्ठमें शब्द ही अटक गये थे और वे बोल नहीं पा रही थीं। श्रीरामसे विदा माँगनेमें वे अशक्त थीं। और उधर श्रीरामकी क्या दशा थी? क्या वे उनसे अधिक धैर्यका परिचय दे रहे थे? नहीं, वे भी मुँहसे एक शब्दतक उच्चारण नहीं कर पा रहे थे। वे भी रो पड़े और सबको यथायोग्य प्रणाम-नमस्कार कर लेनेपर एकदम पर्णकुटीमें घुस गये।

भाष्यकार विशेषरूपसे 'मातृः' शब्दके साथ 'सर्वाः' शब्द जोड़ते हैं। कवि स्वयं भी विशेषरूपसे यह क्यों कहते हैं कि श्रीरामने कैकेयीको भी पूर्ण श्रद्धासे प्रणाम किया था। परंतु

भाष्यकार तो और भी आगे बढ़ जाते हैं। नहीं तो वे यह क्यों कहते—

अनेन कैकेय्या दोषराहित्यं सूचितम् ।

इससे कैकेयीकी निर्दोषता प्रकट होती है।

राम तो इतने महान् हैं कि यदि कैकेयीका कलङ्क किंचिन्मात्र भी शेष रह जाता, तो भी वे उसे प्रणाम करनेमें कभी नहीं चूकते। कैकेयी भी अन्य माताओं-जैसी उनकी माता थी। उसके प्रति अपना कर्तव्य या धर्म वे कभी नहीं भूले थे। कौसल्या और सुमित्राके प्रति जैसा मान-सम्मान उन्होंने दिखाया था, उतना ही कैकेयीके लिये दिखानेमें उन्होंने कभी भूल नहीं की। इसमें तनिक भी संशय नहीं है। मैंने कहा ही है कि स्वयं कैकेयी भी पश्चात्ताप कर रही थी। फिर कवि क्यों 'सर्वाः' कहता है और भाष्यकारको यह कहनेका अवसर देता है कि कैकेयी पश्चात्ताप कर रही थी? जहाँतक मैं समझ सका हूँ—भाष्यकार यह नहीं कह रहे हैं, मैं ही कह रहा हूँ और मैं समझता हूँ कि ऐसा कहते हुए मैं मार्गसे बाहर नहीं जा रहा हूँ कि राम भक्तिको आदर्श पाठ पढ़ा रहे थे। भरतने कैकेयीके प्रति अपना धर्म सर्वथा भूलकर अनुचित रीतिसे उसकी आलोचना की और श्रीरामने उसको औरोंकी भाँति ही प्रणाम कर भरतको प्रत्यक्ष प्रमाण दे दिया कि एक पुत्रका माताके प्रति क्या कर्तव्य होता है।

भाष्यकार इस देशमें किस प्रकार भाष्य किया करते हैं, इसे स्पष्ट दिखानेवाला यह एक शब्द है। परंतु यह सर्वथा अनुपयुक्त है। क्या मैंने आपको यह नहीं सुनाया—

'रुदन् कुटीं स्वां प्रविवेश रामः ।'

'आँखोंमें आँसू भरे राम कुटीमें घुस गये।' इतना ही कविने कहा है। बस, इतनेसे ही संतुष्ट क्यों नहीं हो जाना चाहिये। यह भी तो सरस भाव है। इससे रामके प्रति हमारी श्रद्धा और प्रेम उमड़ आते हैं। फिर भी भाष्यकार 'रुदन्निव' अर्थात् 'रोनेका बहाना करते' इसलिये कहना चाहता है कि श्रीराम भगवान् थे, अवतार थे और उन्हें रोना नहीं चाहिये था; फिर भी वे मनुष्यकी भाँति रो पड़े। परंतु हम तो श्रीरामको अपने-जैसा ही आचरण करते देखना पसंद करते हैं। उनका वही तो गुण मानवोचित है। इसलिये मैं तो 'रुदन्'का शब्दार्थ यही लूँगा कि श्रीराम अपने हृदयकी पवित्रताके कारण माताओं और भाइयोंसे, जो उन्हें अत्यन्त प्रिय थे और जिनसे वे चौदह वर्षके लिये बिछुड़ रहे थे, विदा लेनेके अन्तिम क्षणोंमें इतने भावाविष्ट हो गये थे कि रो ही पड़े। कौन जाने क्या-क्या घटनाएँ उस अवधिमें घटेंगी। दिन-प्रतिदिन उस कालमें क्या-क्या दुःख देखने होंगे? कुछ भी तो स्पष्ट नहीं था। उस [illegible] सब अन्धकार था। यदि श्रीराम रोये तो हम यह क्यों नहीं विश्वास करें कि वे हृदयसे और यथार्थतः ही रोये थे। मैं तो फिर कहूँगा कि वे सचमुच ही रोये थे।

(अनुवादक तथा प्रेषक—श्रीकस्तूरमलजी बाँठिया)

मुरलीका प्रभाव

जा दिन तैं मुरलीधुनि मेरे श्रवननि आइ समानी री।
ता दिन तैं हौं भई बावरी पिय के हाथ बिकानी री॥
कछु न सुहावै, भावै मो कूँ, ना कछु घर कौ सोच री।
जस-अपजस कौ मोहि न डर कछु, भइ मति अति ही पोच री॥
रात-दिनाँ बिरमत मो मन मैं, वा मुरली कौ राग री।
हौं तो मिलि मुरलीवारे सौं पायौ सहज सुहाग री॥
सब विधि सौं हौं भई अकिंचन, कछु नहिं मेरे पास री।
मोहन मुरलीधर माधो सौं लगी प्रेम की फाँस री॥

—अकिञ्चन

श्राद्धकी महत्ता तथा उसके कुछ आवश्यक अङ्ग

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

श्राद्धकी परिभाषा

श्रद्धापूर्वक किये जानेके कारण ही मुख्यतः इसका नाम श्राद्ध है। 'श्राद्धतत्त्व'में पुलस्त्यके वचनसे कहा गया है कि श्राद्धमें संस्कृत व्यञ्जनादि पक्वान्नोंको दूध, दही, घी आदिके साथ श्रद्धापूर्वक देनेके कारण ही इसका नाम श्राद्ध पड़ा—

संस्कृतव्यञ्जनाद्यं च पयोदधिघृतान्वितम्।
श्रद्धया दीयते यस्माच्छ्राद्धं तेन प्रकीर्तितम्॥

'श्राद्धकल्पलता'कार नन्द पण्डितका कहना है कि पितरोंके उद्देश्यसे श्रद्धा एवं आस्तिकतापूर्वक पदार्थ-त्यागका नाम श्राद्ध है—

पित्र्युद्देश्येन श्रद्धया त्यक्तस्य द्रव्यस्य ब्राह्मणैर्यत्स्वीकरणं तच्छ्राद्धम्।

'श्राद्धविवेक'कार महामहोपाध्याय श्रीरुद्रधर पण्डितका कहना है कि वेदोक्त पात्रालम्भनपूर्वक पित्रादिकोंके उद्देश्यसे द्रव्यत्यागात्मक कर्म ही श्राद्ध है—

श्राद्धं नाम वेदबोधितपात्रालम्भनपूर्वकप्रमीतपित्रादि-देवतोद्देश्यको द्रव्यत्यागविशेषः।

'गौडीय श्राद्धप्रकाश'कार श्रीचतुर्थीलालजीका मत है कि देश-काल-पात्रमें पितरोंके उद्देश्यसे श्रद्धापूर्वक हविष्यान्न, तिल, कुश, जल आदिका त्याग—दान श्राद्ध है—

देशकालपात्रेषु पित्र्युद्देश्येन हविस्तिलदर्भमन्त्रश्रद्धादि-भिर्दानं श्राद्धम्।

दर्शनकाननपञ्चानन श्रीवाचस्पति मिश्रका भी यही मत है। 'पृथ्वीचन्द्रोदय'कारने भी मरीचिके वचनसे कहा है—

प्रेतं पितॄंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत् प्रियमात्मनः।
श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्तितम्॥

'ब्रह्मपुराण'की भी प्रायः यही सम्मति है—

देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत्।
पितॄनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्राद्धमुदाहृतम्॥

(अ० १३०)

पराशरजी भी अपनी स्मृतिमें यही कहते हैं—

देशे काले च पात्रे च विधिना हविषा च यत्।
तिलैर्दर्भैश्च मन्त्रैश्च श्राद्धं स्याच्छ्रद्धया युतम्॥

'वीरमित्रोदय'कार श्रीवीरमिश्र अपने श्राद्धप्रकाशमें बृहस्पतिके वचनसे यही कहते हैं—

('संस्कृतव्यञ्जनाद्यं च' आदि 'श्राद्धतत्त्व'का प्रथमोक्त वचन)

श्राद्धकी वस्तुएँ पितरोंको कैसे मिलती हैं ?

शङ्का हो सकती है कि ये वस्तुएँ पितरोंको कैसे पहुँचती हैं ? इसका सुस्पष्ट उत्तर यह है कि नामगोत्रोंके सहारे विश्वेदेव एवं अग्निष्वात्त आदि दिव्य पितर हव्य-कव्यको पितरोंको प्राप्त करा देते हैं। यदि पिता देवयोनिको प्राप्त हो गया हो तो यहाँ दिया गया अन्न उसे अमृत होकर प्राप्त होता है। मनुष्ययोनि अथवा पशुयोनिमें भी उसे अभीष्ट अन्न-तृणके रूपमें वह हव्य-कव्य प्राप्त होता है। नागादि योनियोंमें वायुरूपसे, यक्षयोनिमें पानरूपसे तथा अन्य योनियोंमें भी श्राद्धवस्तु उसे भोगजनक तृप्तिकर पदार्थोंके रूपमें मिलकर अवश्य तृप्त करता है[1]। जिस प्रकार गोशालामें भूली माताको बछड़ा किसी-न-किसी प्रकार ढूँढ ही लेता है, उसी प्रकार मन्त्र तत्तद्वस्तुजातको प्राणीके पास किसी-न-किसी प्रकार पहुँचा ही देता है। नाम, गोत्र, हृदयकी भक्ति एवं देश-कालादिके सहारे दिये हुए पदार्थोंको भक्तिसे उच्चारित मन्त्र उनके पास पहुँचा देता है। जीव चाहे सैकड़ों योनियोंको भी पार क्यों न

---

१. नाममन्त्रास्तथादेशा भवान्तरगतानपि।
प्राणिनः प्रीणयन्त्येते तदाहारत्वमागतान्॥
देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥
मर्त्यत्वे ह्यन्नरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्युपतिष्ठति॥
पानं भवति यक्षत्वे नानाभोगकरं तथा।

(मार्कण्डेयपुराण; वायुपुराण, श्राद्धकल्पलता)

कर गया हो, तृप्ति तो उसके पास पहुँच ही जाती है[1]। जिन महर्षि याज्ञवल्क्यके लिये तुलसीदासजीने—

'जानहिं तीनि काल निज ग्याना । करतल गत आमलक समाना ॥'
(बालकाण्ड २९ । ७)

—ऐसा लिखा है, उन्हींका कहना है कि पितरलोग श्राद्धसे तृप्त होकर आयु, प्रजा, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, राज्य एवं अन्य सभी सुख भी देते हैं[2]। 'श्राद्धचन्द्रिका'में तो कूर्मपुराणके वचनसे कहा गया है कि श्राद्धसे बढ़कर और कोई कल्याणकर वस्तु है ही नहीं, इसलिये चतुर मनुष्यको सारे प्रयत्नोंसे श्राद्धका अनुष्ठान करना चाहिये[3]। पितृपति यमराजका भी यही डिण्डिमघोष है—

आयुः पुत्रान् यशः स्वर्गं कीर्तिं पुष्टिं बलं श्रियम् ।
पशून् सौख्यं धनं धान्यं प्राप्नुयात् पितृपूजनात् ॥
(यमस्मृति, श्राद्धप्रकाश)

विष्णुपुराणका कहना है कि श्रद्धालुको सभी वस्तुओंके अभावमें वनमें जाकर अपनी दोनों भुजाओंको उठाकर कह देना चाहिये कि मेरे पास श्राद्धके योग्य न धन है और न दूसरी वस्तु; अतः मैं अपने पितरोंको प्रणाम करता हूँ। वे मेरी भक्तिसे ही तृप्ति-लाभ करें[1]। ब्रह्मपुराणका तो यहाँतक कहना है कि मनुष्यके पास यदि कुछ भी न हो तो केवल शाकसे ही श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करना चाहिये। अकिंचन ऋषियोंके पास क्या रहता था?—श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करनेवालेके कुलमें कोई क्लेश नहीं पाता[2]। वीरमित्रोदयकार तो यमस्मृतिके वचनसे पितरोंकी पूजाको साक्षात् विष्णुकी ही पूजा बतलाते हैं[3]। वहीं ब्रह्मपुराणके वचनसे यह भी कहा गया है कि विधिपूर्वक श्राद्ध करनेवाले आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त जगत्को तृप्त कर देते हैं[4]।

स्कन्दपुराण नागरखण्डके वचनसे वहीं कहा गया है कि श्राद्धकी तनिक भी वस्तु व्यर्थ नहीं जाती, अतएव श्राद्ध अवश्य करना चाहिये[5]।

श्राद्ध न करनेसे हानि

जो यह समझकर कि 'देवता पितर हैं ही कहाँ'—श्राद्ध नहीं करता, पितरलोग लाचार होकर उसका रक्तपान करते हैं[6]। जो उचित तिथिपर जलसे अथवा शाकसे भी

---

१. (क) यथा गोष्ठे प्रणष्टां वै वत्सो विन्देत मातरम् ।
तथा तं नयते मन्त्रो जन्तुर्यत्रावतिष्ठते ॥
नाम गोत्रं च मन्त्रश्च दत्तमन्नं नयन्ति तम् ।
अपि योनिशतं प्राप्तांस्तृप्तिस्ताननुगच्छति ॥
(वायुपु० उपोद्घात पा० ८३ । ११९–२०)

(ख) नामगोत्रं पितॄणां तु प्रापकं हव्यकव्ययोः ।
श्राद्धस्य मन्त्रतस्तत्त्वमुपलभ्येत भक्तितः ॥
अग्निष्वात्तादयस्तेषामाधिपत्ये व्यवस्थिताः ।
नामगोत्रास्तथादेशा भवन्त्युद्भवतामपि ॥
प्राणिनः प्रीणयन्त्येतदर्हणं समुपागतम् ।
(पद्मपुराण सृष्टिखं० १० । ३८–३९)

२. आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च ।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नॄणां पितामहाः ॥
(याज्ञ० स्मृ० १ । २७०)

३. श्राद्धात् परतरं नास्ति श्रेयस्करमुदाहृतम् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद् विचक्षणः ॥
(श्राद्धचन्द्रिका, कूर्मपुराण)

१. न मेऽस्ति वित्तं न धनं च नान्यच्छ्राद्धोपयोग्यं स्वपितॄन् नतोऽस्मि ।
तृप्यन्तु भक्त्या पितरो मयैतौ कृतौ भुजौ वर्त्मनि मारुतस्य ॥
(विष्णु० पु० ३ । १४ । ३०)

२. तस्माच्छ्राद्धं नरो भक्त्या शाकैरपि यथाविधि ।
कुर्वीत श्रद्धया तस्य कुले कश्चिन्न सीदति ॥
(ब्रह्मपुराण)

३. ये यजन्ति पितॄन् देवान् ब्राह्मणांश्च हुताशनान् ।
सर्वभूतान्तरात्मानं विष्णुमेव यजन्ति ते ॥
(वीर० श्राद्धप्र० यमस्मृ०)

४. यो वा विधानतः श्राद्धं कुर्यात् स्वविभवोचितम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत् प्रीणाति मानवः ॥

५. श्राद्धे तु क्रियमाणे वै न किंचिद् व्यर्थतां व्रजेत् ।
उच्छिष्टमपि राजेन्द्र तस्माच्छ्राद्धं समाचरेत् ॥
(वी० मि० श्रा० प्रका०)

६. न सन्ति पितरश्चेति कृत्वा मनसि वर्तते ।
श्राद्धं न कुरुते यस्तु तस्य रक्तं पिबन्ति ते ॥
(श्राद्धकल्पलता, श्राद्धप्रकाश, श्राद्धविवेक, सभी आदित्यपुराणके वचनसे)

श्राद्ध नहीं करता, पितर उसे शाप देकर लौट जाते हैं[1]। मार्कण्डेयपुराणका कहना है कि जिस देश अथवा कुलमें श्राद्ध नहीं होता, वहाँ वीर, नीरोग, शतायु पुरुष नहीं उत्पन्न होते। जहाँ श्राद्ध नहीं होता, वहाँ वास्तविक कल्याण नहीं होता[2]।

श्राद्धके बारह भेद—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धि (नान्दी), सपिण्डन, पार्वण, गोष्ठी, शुद्धि, कर्माङ्ग, दैविक, यात्रा एवं पुष्टिश्राद्ध—ये श्राद्धके बारह भेद हैं। (विश्वामित्र-स्मृति, भविष्यपुराण)

श्राद्धके अधिकारी—पिताका श्राद्ध पुत्रको ही करना चाहिये। पुत्र न हो तो स्त्री श्राद्ध करे। पत्नीके भी अभावमें सहोदर भाई और उसके भी अभावमें सपिण्डोंको श्राद्ध करना चाहिये। जामाता एवं दौहित्र भी श्राद्धके अधिकारी हैं। सभीके अभावमें राजाको मृत व्यक्तिके धनसे उसका श्राद्ध कराना चाहिये; क्योंकि वह सभीका बान्धव कहा जाता है[3]। दत्तकपुत्र तथा अनुपवीत (चूडासंस्कृत) पुत्र भी श्राद्धका अधिकारी है।

श्राद्धमें ब्राह्मण-संख्या—श्राद्धमें अधिक ब्राह्मणोंका निमन्त्रण ठीक नहीं। देवकार्यमें दो तथा पितृकार्यमें तीन ब्राह्मण पर्याप्त हैं, अथवा उभयत्र एक-एक ब्राह्मण ही आमन्त्रित करें; क्योंकि ब्राह्मणोंका विस्तार उचित सत्कार आदिमें बाधक बन जाता है, जिससे निस्संदेह महान् अकल्याण होता है[1]।

पूर्व, मध्यम, उत्तर कर्म—प्रेतक्रियाको पूर्वकर्म, एकादशाहसे सपिण्डनके पूर्वतक मध्यमकर्म तथा सपिण्डनके बादकी सारी क्रियाएँ उत्तरक्रिया कहलाती हैं। माताका श्राद्ध सर्वत्र पिताके साथ ही किया जाता है, पर मरनेके बाद, महैकोद्दिष्ट, अष्टकाश्राद्ध, वृद्धिश्राद्ध, तथा गयाश्राद्ध पृथक् करना चाहिये[2]।

श्राद्धमें अत्यन्त पवित्र तीन प्रयोजनीय—कुतप नामका मुहूर्त[3] (दोपहरके बाद कुल २४ मिनटका समय); तिल, दौहित्र[4]—इन तीन वस्तुओंको मनुने श्राद्धमें

---

१. जलेनापि च न श्राद्धं शाकेनापि करोति यः।
अमायां पितरस्तस्य शापं दत्त्वा प्रयान्ति च॥
(श्रा० क० कूर्मपुराण)

२. न तत्र वीरा जायन्ते नारोग्यं न शतायुषः।
न च श्रेयोऽधिगच्छन्ति यत्र श्राद्धं विवर्जितम्॥

३. (क) पितुः पुत्रेण कर्त्तव्या पिण्डदानोदकक्रिया।
पुत्राभावे तु पत्नी स्यात् पत्न्यभावे तु सोदरः॥
(हेमाद्रि श्राद्ध० शंखस्मृ० श्रा० क० नि० सिं०)

(ख) पुत्रः पौत्रश्च तत्पुत्रः पुत्रिकापुत्र एव च।
पत्नी भ्राता च तज्जश्च पिता माता स्नुषा तथा॥
भगिनी भागिनेयश्च सपिण्डः सोदकस्तथा।
असंनिधाने पूर्वेषामुत्तरे पिण्डदाः स्मृताः॥
(स्मृतिसंग्रह, श्राद्ध० क०)

(ग) सर्वाभावे तु नृपतिः कारयेत् तस्य रिक्थतः।
तज्जातीयैन वै सम्यग् दाहाद्याः सकलाः क्रियाः॥
सर्वेषामेव वर्णानां बान्धवो नृपतिर्यतः।
(मार्कण्डेयपुराण; श्रा० कल्पलता)

१. द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।
भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे॥
सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः।
पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्॥
(मनु० ३। १२५-२६; विष्णुपुरा० ३। १५। १५; पद्मपुराण सृ० खं० अ० ९।)

२. अष्टकासु च वृद्धौ च गयायां च मृतेऽहनि।
मातुः श्राद्धं पृथक् कुर्यादन्यत्र पतिना सह॥
(वायुपुराण ११०। १७)

३. अह्नो मुहूर्ता विख्याता दश पञ्च च सर्वदा।
तस्याष्टमो मुहूर्तो यः स कालः कुतपः स्मृतः॥
(मत्स्यपुराण)

'पंद्रह मुहूर्तोंमें विभक्त दिनमानके अष्टम भागको 'कुतप' कहते हैं।

४. (क) वृद्धशातातपस्मृति 'दौहित्र'का अर्थ गैंड़ेके सींगका बना पात्र बतलाती है। यथा—

दुहित्रं खड्गमृगस्य ललाटे यत् प्रदिश्यते।
तस्य शृङ्गस्य यत् पात्रं दौहित्रमिति कीर्तितम्॥
(वृ० शा० स्मृ०)

(ख) स्मृत्यन्तरमें 'दौहित्र' शब्दका अर्थ शुक्लप्रतिपत्का गोदुग्ध कहा गया है।

अमावस्यां गते सोमे या तु खादति गौस्तृणम्।
तस्या गोर्यद् भवेत् क्षीरं तद् दौहित्रमुदाहृतम्॥

(ग) सामान्य अर्थ 'दुहितुः पुत्रः' नाती भी होता है। पर उसे उपनीत होना चाहिये।

अत्यन्त पवित्र कहा है[1]।

श्राद्धमें प्रशंसनीय तीन गुण–पवित्रता, अक्रोध और अचापल्य (जल्दीबाजी नहीं करना)—ये तीन श्राद्धमें प्रशंसनीय गुण हैं[2]।

श्राद्धमें महत्त्वके सात प्रयोजनीय–गङ्गाजल, दूध, मधु, तसरका कपड़ा, दौहित्र, कुतप और तिल—ये सात श्राद्धमें बड़े महत्त्वके प्रयोजनीय हैं[3]।

श्राद्धमें आठ दुर्लभ प्रयोजनीय–मध्याह्नोत्तरकाल, खड्गपात्र, नेपाली कम्बल, चाँदी, कुश, तिल, शाक और दौहित्र—ये आठ प्रयोजनीय श्राद्धमें बड़े दुर्लभ हैं।[4]

श्राद्धमें तुलसीकी महामहिमा–तुलसीकी गन्धसे पितृगण प्रसन्न होकर गरुड़पर आरूढ़ हो विष्णुलोकको चले जाते हैं। तुलसीसे पिण्डार्चन किये जानेपर पितरलोग प्रलय-पर्यन्त तृप्त रहते हैं[5]।

श्राद्धकर्ताके लिये वर्ज्य सात चीजें—

दन्तधावन, ताम्बूल, तैलमर्दन, उपवास, स्त्रीसम्भोग, औषध तथा परान्नभक्षण–ये सात चीजें श्राद्धकर्ताके लिये वर्जित हैं।[6] यदि भूलसे दतुवन कर ले तो वह सौ बार गायत्रीसे अभिमन्त्रित पवित्र जल पीकर शुद्ध होता है।[1]

श्राद्धभोक्ताके लिये वर्ज्य आठ वस्तुएँ[2]–पुनर्भोजन, यात्रा, भार ढोना, मैथुन, दान लेना, हवन करना, परिश्रम करना और हिंसा करना–ये आठ चीजें श्राद्धमें निमन्त्रित ब्राह्मणको छोड़ देनी चाहिये।

ताम्रकी प्रशंसा और लोहेके पात्रका सर्वथा निषेध-श्राद्धमें ताम्रपात्रका बड़ा महत्त्व है। लोहेके पात्रका श्राद्धमें कदापि उपयोग नहीं करना चाहिये। भोजनालय या पाकशालामें भी उसका कोई उपयोग नहीं होता। केवल शाक-फलादिके काटनेमें उसका उपयोग कर सकते हैं।[3]

---

१. त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः।
(मनु० ३। २३५)

२. त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्।
(मनु० ३। २३५)

३. उच्छिष्टं शिवनिर्माल्यं वान्तं च मृतकर्पटम्।
श्राद्धे सप्त पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः॥
(हेमाद्रि, श्राद्धकल्प०)

उच्छिष्टं=पयः। शिवनिर्माल्यं=गङ्गोदकम्। वान्तं=मधु। मृतकर्पटं=तसरीतन्तुनिर्मितं वासः।

४. मध्याह्नः खड्गपात्रं च तथा नेपालकम्बलम्।
रौप्यं दर्भास्तिलाः शाकं दौहित्रश्चाष्टमः स्मृतः॥
(वाचस्पत्यकोश)

५. (क) तुलसीगन्धमाघ्राय पितरस्तुष्टमानसाः।
प्रयान्ति गरुडारूढास्तत्पदं चक्रपाणिनः॥
(प्रयोगपारिजात; क०)

(ख) पितृपिण्डार्चनं श्राद्धे यैः कृतं तुलसीदलैः।
प्रीणिताः पितरस्तेन यावच्चन्द्रार्कमेदिनी॥

६. दन्तधावनताम्बूलं तैलाभ्यङ्गमभोजनम्।
रत्यौषधं परान्नं च श्राद्धकृत् सप्त वर्जयेत्॥
(महा० शा०; श्राद्धकल्प०)

१. श्राद्धोपवासदिवसे खादित्वा दन्तधावनम्।
गायत्र्या शतसम्पूतमम्बु प्राश्य विशुध्यति॥
(विष्णुरहस्य)

२. (क) पुनर्भोजनमध्वानं भारमायासमैथुनम्।
दानं प्रतिग्रहो होमः श्राद्धभुक् त्वष्ट वर्जयेत्॥
(विष्णुरह०; यमस्मृ०; श्राद्धकल्प०)

(ख) ब्रह्महत्यामवाप्नोति यदि स्त्रीगमनं चरेत्।
(धर्मसिन्धु...)

यस्तयोर्जायते गर्भो दत्त्वा भुक्त्वा च पैतृकम्।
न स विद्यामवाप्नोति क्षीणायुश्चैव जायते॥
श्राद्धं दत्त्वा च भुक्त्वा वाप्यध्वानं यदि गच्छति।
पितरस्तस्य तन्मासं भवन्ते पांसुभोजनाः॥
श्राद्धं दत्त्वा च भुक्त्वा च भारमुद्वहते द्विजः।
पितरस्तस्य तन्मासं भवन्ते भारपीडिताः॥
वनस्पतिगते सोमे यस्तु हिंस्याद् वनस्पतिम्।
घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥
(वसिष्ठस्मृ०)

३. (क) पचमानस्तु भाण्डेषु भक्त्या ताम्रमयेषु च।
समुद्धरति वै घोरान् पितॄन् दुःखमहार्णवात्॥
(स्कन्द० नाग० चम०)

(ख) न कदाचित् पचेदन्नमयःस्थालीषु पैतृकम्।
अयसो दर्शनादेव पितरो विद्रवन्ति हि॥
कालायसं विशेषेण निन्दन्ति पितृकर्मणि।
फलानां चैव शाकानां छेदनार्थानि यानि तु॥
महानसेऽपि शस्तानि तेषामेव हि संनिधिः।
(चमत्कारखण्ड, श्रा० क० लता)

श्राद्धमें प्रशस्त अन्न-फलादि—काली उड़द, तिल, जौ, साँवाँ, चावल, गेहूँ, दूध, दूधके बने सभी पदार्थ, मधु, चीनी, कपूर, गूमा, महाशाक, बेल, आँवला, अंगूर, कटहल, आमड़ा, अनार, अखरोट, कसेरू, नारियल, तेन्द, खजूर, नारंगी, बेर, सुपारी, अदरक, जामुन, परवल, गुड़, कमलगट्टा, नीबू, पीपल, मरिच तथा हुरहुर, चौपत्ती आदिके शाक श्राद्धमें प्रशस्त कहे गये हैं।[1]

श्राद्धमें मांसकी निन्दा—बृहत्पाराशरमें कहा गया है कि श्राद्धमें मांस देनेवाला व्यक्ति मानो चन्दनकी लकड़ी जलाकर उसका कोयला बेचता है। वह तो वैसा मूर्ख है जैसा कोई बालक अगाध कूएँमें अपनी वस्तु डालकर फिर उसे पानेकी इच्छा करता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि न तो कभी मांस खाना चाहिये, न श्राद्धमें ही देना चाहिये। सात्त्विक अन्न-फलोंसे पितरोंकी सर्वोत्तम तृप्ति होती है। मनुका कहना है कि मांस न खानेवालेकी सारी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, वह जो कुछ सोचता है, जो कुछ चाहता है, जो कुछ कहता है, सब सत्य हो जाता है।[2]

१. कृष्णमाषतिलाश्चैव श्रेष्ठाः स्युर्यवशालयः।
तिलाः श्यामाकनीवाराः गोधूमा व्रीहयो यवाः॥
महायवा व्रीहियवास्तथैव च मधूलिकाः।
कालशाकं महाशाकं द्रोणशाकं तथार्द्रकम्॥
बिल्वामलकमृद्वीकाः पनसाम्रातदाडिमम्।
चव्यं पालेवताक्षोटं खर्जूरं च कसेरुकम्॥
कोविदारश्च कन्दश्च पटोलं बृहतीफलम्।
सर्वव्यविकाराणि प्रशस्तानि च पैतृके॥
मधूकं रामठं चैव कर्पूरं मरिचं गुडम्।
श्राद्धकर्मणि शस्तानि सैन्धवं त्रपुसं तथा॥
(वायु० पुरा०, हेमा०, श्राद्धचन्द्रि०, श्राद्धविवेक०, श्राद्धप्रका०, श्राद्धकल्प०)

२. यस्तु प्राणिवधं कृत्वा मांसेन तर्पयेत् पितॄन्।
सोऽविद्वांश्चन्दनं दग्ध्वा कुर्यादङ्गारविक्रयम्॥
क्षिप्त्वा कूपे यथा किंचिद् बालः प्राप्तुं तदिच्छति।
पतत्यज्ञानतः सोऽपि मांसेन श्राद्धकृत् तथा॥
न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद् धर्मतत्त्ववित्।
मुन्यन्नैः स्यात् परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया॥
(बृह० पारा०; श्रीमद्भा० ७। १५। ७८; हेमाद्रि, कालमा०; मदनूरत्न; पृथ्वीचं०; स्मृतिरत्ना०; स्मृतिचन्द्रि०; दिवोदा० प्रका० दीपिकाविवर०, श्राद्धकल्प० आदि)

श्राद्धके ७२ अवसर—वर्षभरमें ७२ श्राद्धके अवसर आते हैं। १२ अमावस्याएँ, १२ संक्रान्तियाँ, १४ मन्वादि एवं ४ युगादि तिथियाँ; ४ अवन्तिकाएँ (आषाढ़ी-आषाढ़में उत्तराषाढ़ानक्षत्रका योग; कार्तिकी; माघी, वैशाखी), १६ अष्टकाएँ (अगहन, पूस, माघ, फाल्गुन दोनों पक्षोंकी सप्तमी-अष्टमी तिथियाँ हैं), ६ अन्वष्टकाएँ (पूस, माघ, फाल्गुनकी अष्टकाके पीछेवाली नवमी तिथियाँ), दो निधन-तिथियाँ एवं दो अयनयोग (उत्तरायण, दक्षिणायन)—ये ७२ श्राद्धके अवसर हैं।[1]

श्राद्धमें पाठ्य प्रसङ्ग—श्राद्धमें श्रीसूक्त, सौपर्णाख्यान, मैत्रावरुणाख्यान, पारिप्लवनाख्यान, धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण उपवीती होकर कुशासनपर बैठकर, हाथमें कुश लेकर ब्राह्मणोंको सामनेसे सुनाना चाहिये।[2]

साथ ही पुरुषसूक्त, रुद्रसूक्त, ऐन्द्रसूक्त, सोमसूक्त, सप्तार्चिस्तव, पावमानी, मधुमती, अस्त्रवती आदि सूक्त एवं ऋचाएँ भी श्राव्य हैं। (वी० श्राद्धप्र०)

शास्त्रमें प्रशस्त कुश—समूलाग्र हरित (जड़से अन्ततक हरे), श्राद्धके दिन उखाड़े हुए, गोकर्णमात्र परिमाणके कुश उत्तम कहे गये हैं।

कुश उखाड़नेका मन्त्र—पृथ्वीको खनतीसे कुछ कोड़कर प्रत्येक कुशको उखाड़ते समय 'ॐ हुं फट्' कहते जाना चाहिये। कुशोंको पितृतीर्थसे उखाड़ना चाहिये।

कुशके भेद—बिना फूल आये कुशको दर्भ कहते हैं। फूल आ जानेपर उन्हींका नाम कुश होता है। समूल कुशका नाम कुतप होता है। अग्रभाग काट देनेपर वे तृण कहे

१. अमावस्या द्वादशैव क्षयाहद्वितये तथा।
षोडशापरपक्षस्य अष्टकान्वष्टकाश्च षट्॥
संक्रान्त्यो द्वादश तथा अयने द्वे च कीर्तिते।
चतुर्दश च मन्वादेर्युगादेश्च चतुष्टयम्॥
अवन्तिकाश्चतस्रश्च श्राद्धान्येवं द्विसप्ततिः।
(श्राद्धकमलाकर)

२. (क) स्वाध्यायं श्रावयेत् पैत्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च॥
(मनु० ३। २३२; पद्मपु० सृ० ९)
(ख) कुशपाणिः कुशासीन उपवीती जपेत् ततः।
वेदोक्तानि पवित्राणि पुराणानि खिलानि च॥
(वीर० श्राद्धप्र०; ब्रह्माण्डपुरा०)

जाते हैं। इन्हें पितृतीर्थसे उखाड़ना चाहिये।[1] तीन कुशोंको लेकर बीचमें पेंच देनेका नाम 'मोटक' है। इनका केवल पितृकार्यमें प्रयोग होता है, प्रेतकार्यमें नहीं।

पितृतीर्थ–अँगूठे और प्रदेशिनी (तर्जनी) अँगुलीके बीचका स्थान पितृतीर्थ कहा जाता है।[2] इससे आचमन नहीं करना चाहिये। पितृकृत्यके लिये यह उत्तम है।

प्रजापतितीर्थ–कनिष्ठिका अँगुलीके पासका स्थान प्रजापतितीर्थ कहा जाता है।

दैवतीर्थ–अँगुलियोंके आगेका भाग दैव या देवतीर्थ कहलाता है।

ब्राह्मतीर्थ–हाथके अँगूठेके पासके भागको ब्राह्मतीर्थ कहा जाता है।[3]

श्राद्धमें निषिद्ध कुश–चितापर बिछाये हुए, रास्तेमें पड़े हुए, पितृ-तर्पण एवं ब्रह्मयज्ञमें उपयोगमें लिये हुए, बिछौने, गंदगीसे[4] तथा आसनमेंसे निकाले हुए, पिण्डोंके नीचे रक्खे हुए तथा अपवित्र हुए कुश निषिद्ध समझे जाते हैं।

श्राद्धमें वर्ज्य गन्ध–पुरानी लकड़ियोंको चन्दनके कार्यमें नहीं लेना चाहिये। निर्गन्ध काष्ठोंका भी उपयोग नहीं होना चाहिये। कपूर, केसर, अगर, खस आदि मिश्रित चन्दन श्राद्धकार्यमें प्रशस्त हैं[1]। कस्तूरी, रक्तचन्दन, गोरोचन, सल्लक, पूतिक आदि वर्ज्य हैं। चन्दन लगानेके समय, विशेषकर ब्राह्मणोंको चन्दन लगाते समय पवित्र (कुश) हाथसे अवश्य निकाल देना चाहिये; अन्यथा पितृगण निराश होकर लौट जाते हैं।[1]

श्राद्धमें ग्राह्य पुष्प–श्राद्धमें कमल, मालती, जूही, चम्पा, प्रायः सभी सुगन्धित श्वेत पुष्प तथा तुलसी और भृङ्गराज अति प्रशस्त हैं।[2]

श्राद्धमें त्याज्य पुष्प–कदम्ब, केवड़ा, मौलसिरी, बेलपत्र, करवीर, लाल तथा काले रंगके सभी फूल तथा उग्र गन्धवाले फूल–ये सभी श्राद्धकार्यमें वर्जित हैं। पितृगण इन्हें देखते ही निराश होकर लौट जाते हैं।[3] मत्स्यपुराणमें–'पद्मबिल्वार्कधत्तूरपारिभद्राढ्यरूषकाः। न देयाः पितृकार्येषु पय आजाविकं तथा' से पद्मादिका भी वर्जन कहा है। पर हेमाद्रिने इसको स्थलजात पुष्प 'गुलाब' कहा है; क्योंकि अन्यत्र सर्वत्र कमलको श्राद्धमें बड़ा प्रशंसनीय बतलाया गया है।

निषिद्ध धूप–अग्निपर दूषित गुग्गुल अथवा बुरा गोंद अथवा केवल घी डालना निषिद्ध है।[4]

भोजन-पात्र–सोने, चाँदी, काँसे और ताँबेके पात्र पूर्व-पूर्व उत्तमोत्तम हैं। इनके अभावमें पत्तलसे काम लेना चाहिये, पर केलेके पत्तेमें श्राद्ध-भोजन सर्वथा निषिद्ध है।[5]

---

१. अप्रसूताः स्मृता दर्भाः प्रसूतास्तु कुशाः स्मृताः।
समूलाः कुतपाः प्रोक्ताश्छिन्नाग्रास्तृणसंज्ञकाः॥
रत्निमात्रप्रमाणाः स्युः पितृतीर्थेन संस्कृताः।

२. (क) अन्तराङ्गुष्ठदेशिन्योः पितॄणां तीर्थमुत्तमम्।
(कूर्मपु० ११)
(ख) न पित्र्येण कदाचन। (मनु० २। ५८)

३. अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः॥
(मनु० २।५९)

४. चितादर्भाः पथिदर्भा ये दर्भा यज्ञभूमिषु।
स्तरणासनपिण्डेषु षट् कुशान् परिवर्जयेत्॥
ब्रह्मयज्ञे च ये दर्भा ये दर्भाः पितृतर्पणे।
हता मूत्रपुरीषाभ्यां तेषां त्यागो विधीयते॥
(श्राद्धसंग्रह, श्राद्धवि०, श्राद्धकल्पल०)

१. (क) श्राद्धेषु विनियोक्तव्या न गन्धा देवदारुजाः।
कल्कीभावं समासाद्य न गन्धा देवदारुजाः॥
पूतिकं मृगनाभिं च रोचनं रक्तचन्दनम्।
कालीयं जोङ्गकं चैव तुरुष्कं वापि वर्जयेत्॥
(मरीचिस्मृ०, श्राद्धप्र०, श्राद्ध० कल्प०)
(ख) पवित्रं तु करे कृत्वा यः समालभते द्विजः।
राक्षसानां भवेच्छ्राद्धं निराशाः पितरो गताः॥
(व्यासस्मृ०, वृद्धशाता०, कल्पलता०)

२. शुक्लाः सुमनसः श्रेष्ठास्तथा पद्मोत्पलानि च।
गन्धरूपोपपन्नानि यानि चान्यानि कृत्स्नशः॥

३. कदम्बं बिल्वपत्रं च केतकीं बकुलं तथा।
बर्बरी कृष्णपुष्पाणि श्राद्धकाले न दापयेत्॥
पुष्पाणि वर्जनीयानि रक्तवर्णानि यानि च।
(शङ्खस्मृ०, प्रयोग०, मत्स्य०, ब्रह्माण्ड०, श्राद्ध० प्र०)

४. घृतं न केवलं दद्याद् दुष्टं वा तृणगुग्गुलम्।
(मदनरत्न, श्राद्धचन्द्रिका, श्रा० प्र०, श्रा० कल्प०)

५. कदलीपत्रं नैव ग्राह्यं यतो हि––
असुराणां कुले जाता रम्भा पूर्वपरिग्रहे।
तस्या दर्शनमात्रेण निराशाः पितरो गताः॥
(श्राद्धचन्द्रिका: कल्पलता०)

प्रशस्त आसन—रेशमी, नेपाली कम्बल, ऊन, काष्ठ, तृण, पर्ण, कुश आदिके आसन श्रेष्ठ हैं। काष्ठासनोंमें भी शमी, काश्मरी, शल्ल, कदम्ब, जामुन, आम, मौलसिरी एवं वरुणके आसन श्रेष्ठ हैं। इनमें भी लोहेकी कील नहीं होनी चाहिये।[1]

निषिद्ध आसन—पलाश, वट, पीपल, गूलर, महुआ आदिके आसन निषिद्ध हैं। साल, नीम, मौलसिरी एवं कचनारके भी आसन गर्हित हैं।[2]

पलाशका ६ स्थानोंमें प्रयोग निषिद्ध—पलाश यज्ञिय वृक्ष है; अतः आसन, शयन, सवारी, खड़ाऊँ, दँतुअन एवं पाद-पीठके लिये उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।[3]

श्राद्धमें प्रशस्त ब्राह्मण—शील, शौच एवं प्रज्ञा देखकर ब्राह्मणको श्राद्धमें निमन्त्रित करना चाहिये। श्राद्धमें अपने इष्टमित्रों तथा गोत्रवाले ब्राह्मणोंको खिलाकर संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। श्राद्धमें कम-से-कम छः पुरुषोंसे अलग हटे हुए गोत्रको तथा असमान गोत्रवालोंको ही भोजन करानेकी प्रशंसा है। योगीकी श्राद्धमें बड़ी महत्ता है।

श्राद्धमें पाद-प्रक्षालन-विधि—श्राद्धमें ब्राह्मणोंको बैठाकर पैर धोना चाहिये। पत्नीको दाहिने रहकर जल गिराना चाहिये, बायें नहीं।[4]

१. क्षौमं दुकूलं नेपालमाविकं दारुजं तथा।
तार्णं पार्णं बृसी चैव विष्टरादि प्रविन्यसेत्॥
शमी च काश्मरी शल्लः कदम्बो वरुणस्तथा।
पञ्चासनानि शस्तानि श्राद्धे देवार्चने तथा॥
अयःशङ्कुमयं पीठं प्रदेयं नोपवेशनम्।
(श्राद्धकल्पलता)

२. पालाशवटवृक्षोत्थमश्वत्थं शालवृक्षकम्।
वृत्तिकौदुम्बरं पीठं भाधुकं च विवर्जयेत्।
(पुलस्त्यस्मृ०)

३. (क) आसनं शयनं यानं पादुके दन्तधावनम्।
वर्जयेद्भूतिकामस्तु पालाशं नित्यमात्मवान्॥
(यमस्मृ०, कृत्यकल्प०, आपा०)

(ख) न पालाशे पादुके पादपीठे आसनं
शयनं यानं दन्तधावनं वा कुर्यात्।
(आपस्तम्बधर्म०)

४. पादप्रक्षालनं प्रोक्तमुपवेश्यासने द्विजान्।
निघ्नतां क्षालनं कुर्यान्निराशाः पितरो गताः॥
श्राद्धकाले यदा पत्नी वामे नीरं प्रदापयेत्।
आसुरं तद् भवेच्छ्राद्धं पितॄणां नोपतिष्ठते।
(स्मृत्यन्तर, आ० क०)

श्राद्धमें निषिद्ध ब्राह्मण—श्राद्धमें चोर, पतित, नास्तिक, मूर्ख, धूर्त, मांसविक्रयी, व्यापारी, नौकर, कुनखी, काले दाँतवाले, गुरुद्वेषी, शूद्रापति, भृतकाध्यापक-भृतकाध्यापित (शुल्कसे पढ़ाने या पढ़नेवाला), काना, जुआरी, अंधा, कुश्ती सिखानेवाला, नपुंसक इत्यादि अधम ब्राह्मणोंको त्याग देना चाहिये। (मनु०, विष्णु०, ब्रह्माण्ड०, मत्स्य०, वायु०, कूर्मपुराण)

श्राद्धमें निषिद्ध अन्न—कोदो, चना, मसूर, बड़ी उड़द, कुलथी, सत्तू, तीसी, रेंड़, मूली, काला जीरा, करीर (टेंटी), कचनार, कैथ, खीरा, काली उड़द, काला नमक, लौकी, कुम्हड़ा, बड़ी सरसों, काली सरसोंकी पत्ती, शतपुष्पी और कोई भी बासी, गला, सड़ा, कच्चा, अपवित्र फल या अन्न निषिद्ध है।[1]

श्राद्धमें भोजनके समय मौन आवश्यक—श्राद्धमें भोजनके समय मौन रहना चाहिये। माँगने या प्रतिषेध करनेका इशारा हाथसे करना चाहिये। जल पीते हुए उसमेंसे यदि कुछ भोजनपात्रमें भी गिर जाय तो वह अन्न अभोज्य हो जाता है। उसे खाकर चान्द्रायण करना पड़ता है। भोजन करते समय ब्राह्मणोंसे 'अन्न कैसा है?' यह नहीं पूछना चाहिये, अन्यथा पितर निराश चले जाते हैं।[2]

तर्पण-सम्बन्धी कुछ विशेष नियम

साधारण नित्य तर्पण दोनों हाथोंसे करना चाहिये,

१. कोद्रवा राजमाषाश्च मसूराश्च कुलत्थकाः।
सक्तवश्चाढकी कृष्णजीरकं काञ्चनालकम्॥
कुसुम्भमतसी चैव विडाललवणं तथा।
एरण्डकाः कृष्णमाषा आविकं माहिषं तथा॥
गन्धारिका मर्कटी च महासर्षपमूलकम्।
कृष्णसर्षपपत्रं च करीरं काञ्चनालकम्॥
अलाबु शतपुष्पी च कूष्माण्डं पूतिगन्धि च।
सर्वं पर्युषितं चैव आघ्रान्तं वावधूनितम्।
परिदग्धमदग्धं वा वर्जयेच्छ्राद्धकर्मणि।
चणका राजमाषाश्च घ्नन्ति श्राद्धं न संशयः॥
(विश्वा० स्मृ०, श्राद्धकल्प०)

२. न वदेन्न च हुंकुर्यादतृप्तौ विरमेन्न च।
याचनं प्रतिषेधो वा कर्तव्यो हस्तसंज्ञया॥
पिबतः पतितं तोयं यदा भोजनभाजने।
अभोज्यं तद् भवेदन्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥
(श्राद्धदीपि०, श्रा० क०)

किंतु श्राद्धका तर्पण केवल दाहिने हाथसे करना चाहिये[1]। तर्पण स्थलपर स्थित होकर स्थलमें तथा जलमें स्थित होकर जलमें ही करना चाहिये। इसके विपरीत करनेसे वह निरर्थक होता है[2]। स्नानाङ्ग तर्पण, ग्रहण, महालय, तीर्थ-विशेष एवं गयादिमें तो तिलसे तर्पणका कोई निषेध नहीं है[3], पर तदतिरिक्त तर्पणके लिये शुक्रवार, रविवार, गजच्छायायोग, संक्रान्ति, युगादि, मन्वादि तिथियोंमें तिलका तर्पण निषिद्ध है। तिल-तर्पण खुले हाथसे देना चाहिये। तिलोंको रोओंमें अथवा हस्तमूलमें लगे नहीं रहना चाहिये[4]।

पिण्डकी अष्टाङ्गता–अन्न, तिल, जल, दूध, घी, मधु, धूप और दीप—ये पिण्डके आठ अङ्ग हैं।

पिण्डका प्रमाण–एकोद्दिष्ट तथा सपिण्डनमें कैथ (कपित्थ) के फलके बराबर, मासिक तथा वार्षिक श्राद्धमें नारियलके बराबर, तीर्थमें मुर्गेके अण्डेके बराबर तथा गया एवं पितृपक्षमें आँवलेके बराबर पिण्ड देना चाहिये। महालय, गयाश्राद्ध, प्रेतश्राद्धमें 'पिण्ड' शब्द तथा अन्यत्र सभी श्राद्धोंमें पिण्डके

१. श्राद्धकाले विवाहे च पाणिनैकेन दीयते।
तर्पणे तूभयेनैव विधिरेष सनातनः॥
(कार्ष्णाजिनि, व्याघ्रपाद, श्राद्धसं०, श्रा० क० ल०)

२. स्थले स्थित्वा जले यस्तु प्रयच्छेदुदकं नरः।
नोपतिष्ठति तद् वारि पितॄणां तन्निरर्थकम्॥
(गोभिलस्मृति०)

३. संक्रान्त्यादिनिमित्ते तु स्नानाङ्गे तर्पणे द्विजः।
तिथिवारनिषेधेऽपि तिलैस्तर्पणमादिशेत्॥
उपरागे पितुः श्राद्धे पातेऽमायां च संक्रमे।
निषिद्धेऽपि हि सर्वत्र तिलैस्तर्पणमाचरेत्॥
तीर्थे तीर्थविशेषे च गयायां प्रेतपक्षके।
निषिद्धेऽपि दिने कुर्याद् तर्पणं तिलमिश्रितम्॥
(वृद्धमनु०, श्रा० क० ल०)

४. हस्तमूले तिलान् क्षिप्त्वा यः कुर्यात् तिलतर्पणम्।
तज्जलं रुधिरं ज्ञेयं ते तिलाः कृमिसंज्ञिताः॥
रोमसंस्थांस्तिलान् कृत्वा यस्तु तर्पयते पितॄन्।
पितरस्तर्पिता तेन रुधिरेण मलेन वा॥
(श्राद्धसं०, गोभिल स्मृ०)

स्थानमें 'अन्न' शब्दका प्रयोग करना चाहिये[1]।

श्राद्ध-मन्त्रोंमें ऋषि, देवता, छन्द-स्मरण अनावश्यक–तर्पण, श्राद्ध, यज्ञ एवं श्रौत होमोंमें ऋष्यादिका स्मरण अनावश्यक एवं वर्जित है[2]। 'ओंकार' भी श्राद्धमन्त्रोंमें नहीं उच्चारण करना चाहिये।

श्राद्धभोजनके लिये प्रायश्चित्त

पार्वण आदि श्राद्धोंमें भोजनके लिये प्रायश्चित्त–पार्वण श्राद्धमें भोजन करनेपर छः प्राणायाम करने चाहिये। त्रैमासिक एवं वार्षिक श्राद्धोंमें भोजन करनेपर उपवासकी आज्ञा है। मृतकश्राद्धमें भोजन करनेपर प्राजापत्य व्रत करके शुद्ध होता है। पापियोंके षोडश श्राद्धोंमेंसे किसी भी श्राद्धमें भोजन करनेपर चान्द्रायणव्रतसे शुद्धि होती है। क्षत्रियके श्राद्धमें इससे दूना, वैश्यके श्राद्धमें तिगुना और शूद्रके श्राद्धमें चौगुना व्रत करना पड़ेगा[3]।

१. (क) एकोद्दिष्टे सपिण्डे च कपित्थं तु विधीयते।
नारिकेलप्रमाणं तु प्रत्यब्दे मासिके तथा॥
तीर्थदेशे च सम्प्राप्ते कुक्कुटाण्डप्रमाणतः।
महालये गयाश्राद्धे कुर्यादामलकोपमम्॥
(ख) महालये गयाश्राद्धे प्रेतश्राद्धे दशाहिके।
पिण्डशब्दप्रयोगः स्यादन्नमन्यत्र कीर्तयेत्॥
(श्राद्धसंग्रह)

२. न स्मरेदृषिदैवं च श्राद्धे वैतानिके मखे।
ब्रह्मयज्ञे च वै तद्वत् तथोङ्कारं च नोच्चरेत्॥
(श्राद्धसंग्रह)

सर्वत्रोङ्कारमुच्चार्य श्राद्धमन्त्रेषु नोच्चरेत्।
आर्षच्छन्दांसि वै तद्वत् यज्ञतर्पणकर्मणि॥
(वृ० वसि०)

३. भुक्तं चेत् पार्वणे श्राद्धे प्राणायामान् षडाचरेत्।
उपवासस्त्रिमासादौ वासरान्तं प्रकीर्तितः॥
प्राणायामत्रयं वृद्धावहोरात्रं सपिण्डने।
प्राजापत्यं नवश्राद्धे पादोनं चाद्यमासिके॥
पापिनां षोडशश्राद्धे कुर्यादिन्दुव्रतं द्विजः।
द्विगुणं क्षत्रियस्यैतत् त्रिगुणं वैश्यभोजने॥
साक्षाच्चतुर्गुणं ह्येतत् स्मृतं शूद्रस्य भोजने।
(भरद्वाजसं०, शंखस्मृ०, श्रा० क० ल०)

श्राद्धके कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्द

१. अग्नौकरण—अग्निहोत्री हो तो अग्निहोत्रकी अग्निमें तथा अन्य जनोंके द्वारा एक दोनेमें ही।

(१) अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा, इदमग्नये न मम।

(२) ॐ सोमाय पितृमते स्वाहा, इदं सोमाय पितृमते न मम।

इस मन्त्रसे दो आहुतियाँ देनेका नाम अग्नौकरण है।

२. परिवेषण—पित्रादिकोंके लिये भोजन परोसना ही परिवेषण है।

३. उर्जकरण—सूत्रदानके बाद जल गिराना ही 'उर्जकरण' है। ('उर्ज्जमित्यपो निषिञ्चति' कात्यायन-श्रौतसूत्र ४। १। १९)।

४. पर्युक्षण—हवनके बाद ईशानकोणसे आरम्भ करके अग्निकोणतक चारों ओर जल गिराना।

५. अवनेजन—दाहिने हाथके पितृतीर्थसे थोड़ा जल कुशोंके मध्यमें गिराना।

६. क्षणदान—थोड़ी देरतक चुप, शान्त रहना।

७. अपसव्य या प्राचीनावीती होना—जनेऊको दाहिने कंधेपर डालकर बायें हाथके बीच कर लेना।

८. सव्य या उपवीती—जनेऊको बायें कंधेके ऊपर तथा दाहिने हाथके नीचे रखना।

९. निवीती या माल्यवत्—जनेऊको गलेमें मालाकी तरह कर लेना।

१०. अर्घ्यपात्र—श्राद्धके अर्घ्यपात्ररूपमें मिट्टी, काँसे, पीतल, राँगे, सीसे अथवा लोहेके किसी पात्रका प्रयोग नहीं करना चाहिये[1]।

११. चन्दन-दानमें विशेष—पितरोंको चन्दन सर्वदा केवल तर्जनी अँगुलीसे ही देना चाहिये[2]।

श्राद्धसारसर्वस्व सप्तार्चिस्तोत्र

अमूर्तानां समूर्तानां पितॄणां दीप्ततेजसाम्।
नमस्यामि सदा तेषां ध्यानिनां योगचक्षुषाम्॥
इन्द्रादीनां जनयितारो दक्षमारीचयोस्तथा।
सप्तर्षीणां पितॄणां च तान्नमस्यामि कामदान्॥
मन्वादीनां सुरेशानां सूर्याचन्द्रमसोस्तथा।
तान्नमस्यामि सर्वान् वै पितॄनप्स्वर्णवेषु च॥
नक्षत्राणां ग्रहाणां च वाय्वग्निपितरस्तथा।
द्यावापृथिव्योश्च सदा नमस्ये तान् पितामहान्॥
देवर्षीणां जनयितॄंश्च सर्वलोकनमस्कृतान्।
अभयस्य सदा दातॄन् नमस्येऽहं कृताञ्जलिः॥
प्रजापतेः कश्यपाय सोमाय वरुणाय च।
योगेश्वरेभ्यश्च सदा नमस्यामि कृताञ्जलिः॥
पितृगणेभ्यः सप्तभ्यो नमो लोकेषु सप्तसु।
स्वयम्भुवे नमस्तुभ्यं ब्रह्मणे लोकचक्षुषे॥
एतदुक्तं च सप्तर्षिब्रह्मर्षिगणपूजितम्।
पवित्रं परमं ह्येतच्छ्रीमद् रक्षोविनाशनम्॥
एतेन विधिना युक्तस्त्रीन् वराँल्लभते नरः।
अन्नमायुः सुतांश्चैव ददते पितरो भुवि॥
भक्त्या परमया युक्तः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
सप्तार्चिषं जपेद् यस्तु नित्यमेव समाहितः॥
सप्तद्वीपसमुद्रायां पृथिव्यामेकराड् भवेत्।

(स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड; ब्रह्माण्डपु०, गरुड़पुराण पूर्वख० ८९। ५२। ६९; श्रीविष्णुधर्मोत्तर० १। १४१। ७८–८४; वायुपु० ७४। २०–३०, मार्कण्डेयपु० ९६)

('कर्मकाण्डदर्पण' नामक अप्रकाशित पुस्तकसे)

गुलाबजल और गङ्गाजल

(रचयिता—श्रीपृथ्वीसिंहजी चौहान 'प्रेमी')

क्यारिन में सूलन की डारिन पै वास तेरो, पायो इन ऊँचो पद विसनु पदी को है।
अनल तपायो तोहि, बोतल समायो, यह भूतल पै छायो, जल संभू-जटनी को है॥
याके अंग लागत ही पाप झरि जात, तव लागत अनंग-बस अंग सबही को है।
नैन-पीर मेटत तू केवल गुलाब जल, भव-पीर मेटन को गङ्गाजल नीको है॥

---

[1] मृत्स्नाभवं तथा कांस्यमारकूटादिसम्भवम्। त्रपुशीशकलोहानामर्घपात्रं विवर्जयेत्॥

[2] पितॄणामर्पयेद गन्धं तर्जन्या च सदैव हि।

किसका ध्यान करूँ ?

[आरण्यक-शाण्डिल्य-संवाद]

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालङ्कार)

महर्षि आरण्यकको तपस्या करते कई वर्ष बीत गये। उनका आश्रम विन्ध्य पर्वतके नीचे एक घने जंगलमें था। चारों ओर हिंस्र पशुओंका निवास था, पर ऋषिवर निर्भीक होकर तपोमय जीवन व्यतीत करते थे। आश्रमके द्वारपर गौएँ बँधी रहती थीं। दिनमें वे निर्भय घास चरती थीं। किसी हिंसक पशुका इतना साहस नहीं होता था कि वह गौकी ओर तिरछी नजरसे देख भी सके।

शरीर-रक्षाके लिये महात्मा आरण्यक केवल दूध और फल ही ग्रहण करते। मासमें एक सप्ताह जल और वायुपर ही निर्भर रहते। जब समाधिस्थ होते, तब ब्रह्मानन्दमें इतने विलीन हो जाते कि सम्पूर्ण इन्द्रियजन्य व्यापार शिथिल हो जाते और क्षुत्-पिपासापर भी नियन्त्रण हो जाता। ऋषिवर इस प्रकार एकान्तभावनासे कृच्छ्र तपके मार्गपर निर्विघ्न अग्रसर हो रहे थे। शरीर तो शुष्क, कण्टकवत् और अस्थिमात्र रह गया था।

मुनिवरका बाह्य जगत्से सम्पर्क विच्छिन्न ही रहता था। सारा समय जप-तप, ध्यान-समाधि और मौनावलम्बनमें ही व्यतीत होता। कभी कोई जिज्ञासु आ जाता तो उनकी शङ्काओंका उत्तर संक्षेपमें ही दे देते।

ऐसा ही प्रसङ्ग एक दिन आया। नर्मदा नदीके किनारे भास्वान् आचार्यका आश्रम था। वहाँ गुरुकुलमें कई ब्रह्मचारी शिक्षा प्राप्त करते थे। प्रत्येक छात्रको आचार्यश्रीकी सेवामें रहते हुए न्यूनतम पचीस वर्षकी आयुतक ब्रह्मचर्यका व्रत पालन करना होता था। संसारके उतार-चढ़ावसे असम्बद्ध रहते हुए गुरु-चरण-सेवा, विद्याभ्यास और अध्यात्मचिन्तन बस, ये ही जीवनके लक्ष्य थे।

आचार्य भास्वान्का एक शिष्य शाण्डिल्य ब्रह्मचर्य-काल समाप्त करके घर वापस जा रहा था। मार्गमें ही महर्षि आरण्यकका आश्रम था। शाण्डिल्यने ऋषिचरणोंके दर्शनसे अपनेको पुनीत करनेका संकल्प किया। उसके हृदयमें कई शङ्काएँ थीं। उनका निवारण भी वह करना चाहता था।

प्रातःकालकी प्रशान्त वेला थी। उपत्यकास्थित कुटीमें ऋषि आरण्यक ध्यानमग्न थे। सामने सरोवरके शान्त जलको हंस और सारस उद्वेलित कर रहे थे। विकसित कमलपुष्प-पराग-कण-सिक्त पवन मन्द-मन्द गतिसे बह रहा था। सरोवर-तटके एक ओर सिंह और दूसरी ओर मृग-शावक अपनी थकान मिटानेके लिये अर्द्ध-निद्रालु हो मक्खी-मच्छरोंसे, निश्चिन्त भावसे, संघर्ष कर रहे थे।

ब्रह्मचारी शाण्डिल्य निःशब्द हो विनय भावसे ऋषि-आसनसे तनिक दूर भूमिपर बैठ गये। कई घंटोंकी समाधिके बाद तपःपूत महर्षिने नेत्र खोले। कृशगात्रसे प्रवाहित ज्योति और तेजोराशि कुटीरमें सर्वत्र व्याप्त थी। आध्यात्मिक शान्ति और ब्रह्मदर्शनोद्भव आनन्द मुनि-मुखपर विराजमान था। ब्रह्मचारीने तत्काल साष्टाङ्ग प्रणाम किया और श्रद्धासे अञ्जलि बाँधकर विनीत भावसे बैठ गया। युवकके मुखकी ओर दृष्टिपात करते हुए महर्षि बोले—

'वत्स! किस उद्देश्यसे इधर आना हुआ?'

शाण्डिल्यने विनयपूर्ण शब्दोंमें अपने आचार्यकुलका परिचय दिया और कहा—भगवन्! शिक्षा समाप्तकर वापस घर जा रहा हूँ। कुछ शङ्काएँ हैं। इनके निवारणके लिये ही आज आपकी चरणधूलि लेने आया हूँ।

आरण्यक—ब्रह्मचारी! कहो क्या शङ्का है?

शाण्डिल्य—पापभावनासे निवृत्त होनेके लिये सतत सचेष्ट रहता हूँ पर सफल नहीं हो पाता। कोई सहज उपाय बतानेकी अनुकम्पा करें।

आरण्यक—पाप-निवृत्तिका कोई भी मार्ग सहज नहीं हो सकता। प्रत्येक उपाय प्रयत्नसाध्य और समयसापेक्ष है।

शाण्डिल्य—पर ऋषिवर! प्रारम्भिक पग क्या हो, जो मुझ-सदृश एक सामान्य व्यक्तिके लिये सम्भव हो—यह तो कुछ निर्देश करें।

आरण्यक—सौम्य! तुम्हारा यह प्रश्न युक्तिसंगत है। प्रारम्भसे ही ब्रह्मका ध्यान साधकके लिये कठिन होता है और

बिना किसी उच्च और परम पवित्र शक्तिका ध्यान किये पाप-मोचन नहीं हो सकता।

शाण्डिल्य—तब हृदयशुद्धिके लिये किस पवित्र और उच्च शक्तिका ध्यान करूँ ?

आरण्यक—इस दिशामें सर्वपापनाशक और इष्ट-साधक पुनीत शक्ति श्रीरामजी हैं। भगवान् श्रीरामके अनवरत चिन्तनसे मुमुक्षुके अन्तस्तलमें प्रसुप्त पाप-संस्कार और प्रकट-में आ रहे पर्वत-सदृश पाप-पुञ्ज, कुछ समय बाद ही उपशमित हो जाते हैं।

शाण्डिल्य—ऋषिवर ! श्रीरामका किस रूपमें ध्यान करूँ?

आरण्यक—श्रीराम अद्वितीय, पूर्णपुरुष, निष्पाप, निष्कलङ्क, उज्ज्वलचरित्र, दीनवत्सल, भवभञ्जक, भय-त्राता और षोडशकलापूर्ण अवतार हैं। उनकी इसी स्नेह-मयी, ममतापूर्ण और वात्सल्यमयी मूर्तिका अहर्निश चिन्तन पापके गरजते मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देगा और तुम्हारे हृदया-काशको स्वच्छ, निर्मल बना देगा। श्रीराम अद्भुत और अति मानवीय गुणोंके पुञ्ज हैं। मानव-जातिका कल्याण ही नहीं, प्राणिमात्रके हितके लिये उन्होंने पृथ्वीपर अवतार लिया। भगवान् श्रीरामको इस भवसागरके पार करनेमें परम सहायक मानकर ही तुम अपने मानस-पटलको निष्पाप और पवित्र कर सकते हो।

शाण्डिल्य—महर्षे ! आपके इन श्रीवचनोंसे मेरे मनका संताप निवृत्त हो गया। पर एक शङ्का और है। आज्ञा करें तो उपस्थित करूँ।

आरण्यक—वत्स ! निःसंकोचभावसे पूछो।

शाण्डिल्य—श्रीरामके किस विग्रहको सम्मुख रखकर मुझे एकाग्रचित्त होना चाहिये ?

आरण्यक—अपनी रुचि, भावना और स्थितिके अनुसार श्रीरामकी विभिन्न झाँकियाँ हैं, जो ध्यानके लिये उपयुक्त हो सकती हैं। जैसे कौसल्यानन्दन राम, भरतके साथ राम, लक्ष्मण-सीताके मध्य राम, हनुमान्‌द्वारा सेवित श्रीराम और प्रजा-रञ्जक राम। पर साधना प्रारम्भ करनेके लिये श्रीरामकी मधुर, मनोमोहक और बालसुलभ मूर्तिका ही चिन्तन करना श्रेयस्कर होगा।

शाण्डिल्य—धन्य हैं, भगवन् ! संशय और शङ्काओंके सब मेघ छिन्न-भिन्न हो गये। अवश्य इस पथपर दृढ़ताके साथ अग्रसर होऊँगा। आपकी शुभाशिषकी कामना करता हूँ।

ऋषि-चरणोंमें विनयावनत हो शाण्डिल्य बड़ी प्रसन्न-मुद्राके साथ वहाँसे विदा हुआ।

(पद्मपुराणके एक प्रसङ्गके आधारपर)

भगवान् अनन्त प्रेमस्वरूप हैं

भक्तिकी तुलना एक त्रिकोणके साथ की जा सकती है। इस त्रिकोणका पहला कोण यह है कि भक्ति या प्रेम कोई प्रतिदान नहीं चाहता। प्रेममें भय नहीं है, यह उसका दूसरा कोण है। पुरस्कार या प्रतिदान पानेके उद्देश्यसे प्रेम करना भिखारीका धर्म है—व्यवसायीका धर्म है, यथार्थ धर्मके साथ उसका बहुत ही कम सम्बन्ध है। कोई भिक्षुक न बने, क्योंकि वैसा होनी नास्तिकताका चिह्न है। 'जो आदमी रहता है गङ्गाके तीरपर, किंतु पानी पीनेके लिये कुआ खोदता है, वह मूर्ख नहीं तो और क्या है ?'—जड वस्तुकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करना भी ठीक वैसा ही है। भक्तको भगवान्‌से सदा इस प्रकार कहनेके लिये तैयार रहना चाहिये—'प्रभो ! मैं तुमसे कुछ भी नहीं चाहता। मैं तुम्हारे लिये अपना सब कुछ अर्पित करनेके लिये तैयार हूँ।'

× × × × ×

अब इस त्रिकोणका तीसरा कोण यह है कि प्रेम ही प्रेमका लक्ष्य है। अन्तमें भक्त इसी भावपर आ पहुँचते हैं कि प्रेम ही सत् है और बाकी सब कुछ असत् है। भगवान्‌का अस्तित्व प्रमाणित करनेके लिये मनुष्यको अब और कहाँ जाना होगा ? इस प्रत्यक्ष संसारमें जो कुछ भी पदार्थ हैं, उन सबके अंदर सर्वापेक्षा स्पष्ट दिखायी देनेवाले तो भगवान् ही हैं। वे ही वह शक्ति हैं, जो सूर्य, चन्द्र और तारोंको घुमाती एवं चलाती है तथा स्त्री-पुरुषोंमें, सभी जीवोंमें, सभी वस्तुओंमें प्रकाशित हो रही है। जड शक्तिके राज्यमें, मध्याकर्षण शक्तिके रूपमें वे ही विद्यमान हैं। प्रत्येक स्थानमें, प्रत्येक परमाणुमें वे ही वर्तमान हैं—सर्वत्र उनकी ज्योति छिटकी हुई है। वे ही अनन्त प्रेमस्वरूप हैं, संसारकी एकमात्र संचालिनी शक्ति हैं और वे ही सर्वत्र प्रत्यक्ष दिखायी दे रहे हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

धर्मराज्य-वाद

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल एम्० ए०, डी० ओ० सी०, विद्यावारिधि)

श्रीभगवान्‌को अपनी माताके उदरमें अपनी रक्षा करते हुए देखनेवाले महान् जीवात्मा, जिनकी परीक्षा जन्मके बाद प्रभुको खोजनेमें, राज्य करते समय प्रभुको भजनेमें, शिकार करने जाते समय ब्रह्मतेजकी अवहेलनामें और महाप्रयाणके समय श्रीभगवत्-कथामृतमें तल्लीन होनेमें हुई थी, उन महाराज परीक्षित्‌ने जब परम भागवत मुनि श्रीशुकदेवजीसे दुनियाभरके प्रश्न जीवोंके परम कल्याणके लिये पूछे, तब तत्त्वको हस्तामलकवत् देखनेवाले और तत्त्वचिन्तनके बिना 'सब मिथ्या है' यह जाननेवाले उन महामुनिने पहले ही श्लोकमें सारे ज्ञानका, उपासनाका और क्रियाका सार इस प्रकार कह दिया—

आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः ।
न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा ॥

'राजन् ! तुझे मैं क्या उत्तर दूँ ? आत्मा जो केवल अनुभवसे ही जाना जाता है, उसका पदार्थके साथ सम्बन्ध ही उसकी अपनी लीलाके सिवा साक्षात्‌रूपमें घट नहीं सकता, उसी प्रकार जैसे स्वप्न देखनेवालेका स्वप्नके पदार्थोंके साथ सम्बन्ध मायिक ही होता है।'

परम तत्त्वज्ञ शुकदेवजीका यह उत्तर परीक्षित्‌के लिये ही नहीं था, बल्कि सारी दुनियाके लिये था, है और रहेगा। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि इस मायिक जगत्‌में अखण्ड आनन्दरूप परमात्माको कुछ लेना-देना नहीं है। यह तो सब माया है, इन्द्रजाल है। द्वैतमात्र मिथ्या है, समस्त संसार ही स्वप्न है और संसारके सभी पदार्थ स्वप्नकी सामग्री हैं। फिर इनके लिये माथापची क्यों करे ? इसमें जीव लिप्त क्यों हो, इसमें फिर सुधार क्या किया जाय और यदि इसमें तत्त्वचिन्तक लिप्त होता है, जीव फँस जाता है अथवा दुनियाको सच मानकर उसमें गोता खाता है तो उसको क्या कहें ? जैसे अमृतका छींटा पड़ते ही मृतदेह सजीव हो जाता है या स्पर्शमणिको छूते ही लोहा सोना बन जाता है, उसी प्रकार इस तत्त्वका प्रकाश होते ही संसारका अज्ञानान्धकार सदाके लिये विलीन हो जाता है। जब संसार ही असत् है, तब उसमें समाज, राज्य और राज्यके लिये चिन्ता कैसी ? इनके लिये इतनी विडम्बना क्यों ? और इसके लिये सिरतोड़ प्रयत्न क्यों ? इस तत्त्वका ज्ञान ही शान्तिकी, सुखकी, मिथ्या प्रयत्नोंको समाप्त करनेकी और समझदारको समझानेकी, समस्त वादोंको जीतनेकी और सत्यका साम्राज्य सिद्ध करनेकी, चतुरको चेतानेकी और चालाकीको चतुराई माननेवालोंकी आँखें खोलनेकी चाबी है तथा इसी पद्धतिसे सत्य विजयी होता है।

परम सत्यकी प्राप्ति कैसे हो ?

परंतु मायामें फँसा हुआ जीव कहता है—'भाई साहब ! यह सब मिथ्या है ? यह बात तो मनमें कुछ बैठती नहीं। प्रभुकी माया होगी, परंतु हमारे लिये तो यह सत्य ही सिद्ध हो रही है और आने-जानेवाले सुख-दुःखोंको सत्य दिखला रही है। ये सब अनेक रूप मायाके होंगे, परंतु इसीमें हमको तो जैसे 'मैंपन' और 'मेरापन' दीख रहा है और इसीमें हम रमण करने लगे हैं।' इसीके उत्तरमें भगवान्‌ने ब्रह्माको चार श्लोकोंमें समस्त भागवतका ज्ञान कहा। इसमें बात यही है कि परम सत्य देश-काल-वस्तुसे बाधित नहीं होता। 'इस सत्यकी अनुभूति कैसे होती है ?—संयमरूप तपश्चर्यासे, संशुद्धिपूर्ण उपासनासे और सर्वज्ञके अनुग्रहसंयुक्त ज्ञानसे। इन तीनोंका महान् समन्वय ही यज्ञ है। यह यज्ञ देवोंने—जीवात्माओंने पहले किया और वह यज्ञरूप भगवान्‌के शरीरके द्वारा, यज्ञरूप भगवान्‌की यजन-क्रियाके द्वारा, इस समस्त संसार-लीलाके मायिक सर्जन-विसर्जनके द्वारा देवताओंने किया और वह जीवोंका प्रथम धर्म हुआ। जीवोंकी सृष्टिके साथ ही जीवोंके धर्मका सृजन हुआ और उस धर्मने ही प्रजाको उसकी स्थितिमें धारण कर रक्खा है। एकसे ही अपनी मायाके द्वारा अनेक हुए अथवा अनेक रूपोंमें दिखायी देनेवाले समस्त व्यक्तियोंके सत्कर्म, सदुपासना और सत्-ज्ञान—ये सामान्य धर्म हैं, और वे सबके विशिष्टरूपमें फिर विशिष्ट धर्म भी हैं। बालकके जन्मनेके साथ ही माताके स्तनमें प्रभु जो दूधका झरना भर देते हैं, उन्हीं प्रभुने जीवात्माओंकी उत्पत्तिके साथ ही उसे उन धर्मोंका ज्ञान दे दिया, जो श्रुति अथवा वेदके रूपमें विख्यात है और इसीसे वेदमें कथित इस जीवनके महामार्गको धर्म कहते हैं। इस वेदकी समय-क्रमसे अनेकों शाखाएँ-प्रशाखाएँ हो

गयीं। इसी प्रकार जीवोंकी अनेक प्रकारकी मतियोंसे उसमें अनेक प्रकारके भेद हो गये तथा अनेक सम्प्रदाय, पंथ और मार्ग बन गये । उनमें ज्ञानप्रधान सात्त्विक, क्रिया-प्रधान राजसी और प्रमादप्रधान तामसिक मार्ग भी अस्तित्वमें आये। यह गुणोंका तारतम्य भी कैसा? पाँच वर्षके राजकुमार ध्रुवमें इतनी श्रद्धा थी कि जब नारदजीने उसको डराया—'भैया! तू जंगलमें तप करने जा रहा है। वहाँ तेरे खाने-पीने और रहनेकी क्या व्यवस्था होगी?' तब ध्रुवजीने इस प्रश्नका बड़ा सीधा-सा उत्तर दिया—

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन स मे वृत्तिं विधास्यति॥

'नारदजी! आप मुझसे यह प्रश्न पूछते हैं? हंसको जिसने श्वेत बनाया, तोतेको हरा बनाया तथा मोरको जिसने विभिन्न रंगोंसे चित्रित किया, वही मेरे निर्वाहकी व्यवस्था करेगा।' नारदजी प्रसन्न हो गये। बच्चा परीक्षामें पास हो गया और आनन्दित होकर उन्होंने उसको परम सत्यका मन्त्र दिया। प्रह्लादजी भी परीक्षामें सफल निकले। नास्तिकोंका शोर-गुल कोई आज नया नहीं है। उसके पिता हिरण्यकशिपुने अपने भाईको मारनेवाले विष्णुको बदला लेनेके लिये खूब खोजा। भगवान्ने देखा कि यह मूढ़ अन्तरमें नहीं देखता, इसलिये उसके हृदयाकाशमें वे छिप गये। हिरण्यकशिपुने प्रह्लादसे पूछा—'तेरा भगवान् कहाँ है? मुझे तो कहीं मिलता नहीं।' प्रह्लादने कहा—'पिताजी! मुझे तो वह सब जगह दीखता है, आपको क्यों नहीं दिखलायी देता?' देखनेवालेको उससे रहित कोई खाली स्थान नहीं दीखता और न देखनेवालेको वह कहीं मिलता ही नहीं। बात तो यह है न कि सत्यके नेत्र प्रभु खोलते हैं, तब खुलते हैं। कहते हैं कि बिल्लीके बच्चोंकी आँखें सातवें दिन खुलती हैं। कितने ही लोगोंकी आँखें सौ वर्ष भी नहीं खुलतीं। इस उदाहरणसे कर्म, उपासना और ज्ञानकी सारी समस्याओंका समाधान हो जाता है। ईश्वर जगत्का नियन्ता है, उसके रचे हुए इस विश्वका विधान अद्भुत, अप्रमेय तथा अलङ्घनीय है। उसके विधि-निषेधोंका अनुसरण करनेसे पुरुषार्थमात्रकी सिद्धि तथा उसके विरुद्ध आचरण करनेसे दण्ड और विफलता भी निश्चित है।

विश्वका इतिहास-दर्शन—शास्त्रदृष्टिसे

विश्वकी मायिकता हमने बतलायी, तथापि यह विश्व हमारी माया नहीं है, यह ईश्वरकी माया है; इसलिये यह अघटन-घटनापटीयसी, अप्रमेय और अनिर्वचनीय है यानी सदसद्रूपा है। वह जबतक दीखती है, उतने कालके लिये उसे सत् ही कहना पड़ता है। पीछे वह विलीन हो जाती है, बदल जाती है, इसलिये उसको असत् भी मानना पड़ता है। इस मायासे यह विश्व रचा गया है और वह ठहरी सदसद्रूप या अनिर्वचनीय और इस कारण उसके सारे निराकरण—खण्डन वस्तुतः काल्पनिक या मायिक हैं। परंतु उस सर्वज्ञ ईश्वर या उसके अवतारोंकी अव्यवहित दृष्टिसे किये गये वे निराकरण स्वयं उसके द्वारा निर्णीत विधि-निषेधोंकी भाँति ही हमारे लिये उपकारक हैं। ये निर्धारण ऐतिहासिक दृष्टिसे क्या हैं, इसपर जरा ध्यान दीजिये—

(१) सृष्टि अनादिकालसे, अगणित वर्षोंसे चलती आयी है और उसके अनन्त जीवनमें कोई भी आश्चर्य या असम्भवता नहीं है।

(२) सृष्टि-चक्रमें प्रथम सात्त्विकताका युग आता है। पीछे क्रमशः सत्त्वका धीरे-धीरे ह्रास होता जाता है तथा रजोगुण एवं तमोगुणकी वृद्धि चारों युगोंतक होती आती है; फिर अन्तमें वैसा ही सत्ययुग आता है और यह चक्र चला करता है। आजकल कलि*युग—चौथा युग है, इससे लड़ाइयाँ अधिक दिखलायी देती हैं।

(३) यह विश्व परम सम्राट् ईश्वरका साम्राज्य है। हमारी दुनियाँमें भी असंख्य वर्षोंसे राज्य और साम्राज्य राजाओं तथा सम्राटोंद्वारा ही संचालित होते आये हैं और अधिकांशमें वे अच्छे ही चले हैं। उन्होंने धर्मका अवलम्बन करके राज्य किया, इससे उनकी व्यवस्था भी ठीक रही।

(४) दुनियाँकी प्राचीन-से-प्राचीन भाषा संस्कृत है, जो सभी भाषाओंसे बढ़कर विशाल, व्यवस्थित, वैज्ञानिक और पूर्ण है तथा वही वेदकी एवं दुनियाँके सबसे महान् ग्रन्थ महाभारत, रामायण और पुराणोंकी भाषा है।

(५) कर्म, उपासना, ज्ञानके—विद्या, कला तथा साहित्यके उत्तमोत्तम ग्रन्थ आर्योंके साहित्यमें हैं। उसीमेंसे सब मनुष्योंने परम्परासे प्रसादी (जूठन) प्राप्त की है। आर्य अर्थात् सुसंस्कारी जनोंकी भाषा संस्कृत, उनका साहित्य आर्यसाहित्य तथा उनके शास्त्रीय ग्रन्थ (गणित, ज्यौतिष,

*'कलि' का अर्थ है कलह।

वैद्यक, व्याकरण, न्याय, तत्त्वदर्शन इत्यादि विषयक) सर्वोपरि हैं और प्राचीनतम हैं।

(६) आर्योंका धर्म सबसे प्राचीन है और भगवान् मनुके कहे हुए मानवधर्म-शास्त्रके रूपमें वेदोंके आधारपर ही व्यवस्थाबद्ध हुआ है तथा इतिहास, पुराण और स्मृतियाँ—ये इन्हीं वेदोंपर किये हुए विविध प्रकारके भाष्य या उदाहरण-ग्रन्थ हैं।

(७) प्राचीन आर्य-मानवोंका धर्म ईश्वरोदित है, उसका कोई खास नाम नहीं; उसके वेद-स्मृति आदि अनेकों ग्रन्थ हैं, जिनका संरक्षण हजारों वर्षोंसे ब्राह्मणोंने किया है। उनके विधि-निषेध बहुत योग्य, स्वाभाविक तथा लाभदायक और उन्नतिजनक हैं। उनकी उत्तमता इसीसे देखी जा सकती है कि उनका अनुसरण करनेवाली आर्य प्रजा-जैसी दीर्घजीवी दूसरी कोई प्रजा नहीं रही।

(८) भारतदेशमें जो धर्मराज्यकी प्रणाली चली आ रही है, वह पुराने और नये राज्यरोगोंके लिये रामबाण औषध है। उसमें वंशपरम्परासे दीक्षित सदाचारी राजा, तटस्थ महात्मा, गुरु—ये मानवनेता, अष्ट-प्रधानोंका तन्त्र, राज्यसे स्वतन्त्र विद्या, शिक्षा, वर्णाश्रमकी समाज-व्यवस्था, माण्डलिक राजाओंका समवाय-तन्त्र, राज्योंकी परस्पर सहयोगिता, सस्ता और शीघ्र मिलनेवाला न्याय, वैश्योंके, हस्तगत व्यापार, लघुयन्त्रका व्यापक उद्योग और धर्मानुकूल कानून आदि लोकहितकारी अमोघ तत्त्वोंका समावेश है।

(९) मानवकुलका समाजतन्त्र भी ईश्वरोक्त सनातन धर्मके ऊपर अवलम्बित है। मनुष्योंके द्वारा मनुष्यको लूटे जानेसे बचानेके लिये जैसे प्रभुने राजाका सृजन किया, उसी प्रकार मनुष्यको उसकी योग्यताके अनुसार उन्नत होनेके लिये चार वर्ण और चार आश्रम, उनके आचार तथा उनकी आजीविका आदिका सृजन—निश्चय किया। ईश्वरके द्वारा नियत किये हुए विधानको 'समाजतन्त्र' कहते हैं।

(१०) भगवान् मनु ईश्वरके अवताररूप थे, जिनको कुछ लोग आदिसूर्यरूप तथा कुछ लोग आदिदेव-मानवरूप मानते हैं। उन्होंने पहले विशेष धर्म, विशेष समाज, विशिष्ट राज्य और विशिष्ट सृष्टिकी रचना की। वे मानव-इतिहासकी ईश्वरोक्त आदि रचनाएँ हैं। इसलिये वे सबके ग्रहण करने योग्य, सबका मूलरूप तथा सर्वोत्तम, सर्वविधायक तथा समस्त क्रियाओंका नियामक हैं। सभी धर्म, सम्प्रदाय और पन्थ उसीमेंसे महापुरुषोंद्वारा देश-काल-वस्तु-स्थितिको लेकर आविर्भूत हुए हैं। उनमें कुछ सात्त्विक, कुछ राजसी और कुछ तामसी हैं, जिनका अपने-अपने स्वभावके अनुसार जीव अनुसरण करते हैं। शास्त्र इन सारी व्यवस्थाओंका विस्तृत साहित्य है।

(११) इस समस्त विश्वका सम्यग् दर्शन सात्त्विक बुद्धिको पूर्णरूपसे होता है। दूषित आहार करनेवाले, दोषयुक्त मद्यपान आदि करनेवाले, जातीय दुराचार करनेवाले, दुष्ट जीवनमें रचेपचे, ईश्वरमें श्रद्धाहीन, पाप और पतनके मार्गोंमें चलनेवाले तथा अभिशप्त आसुरी जीवोंको इतिहासका यह दर्शन नहीं होता और वे मिथ्या कल्पनाओंमें भटकते रहते हैं। ईश्वरकी भक्ति, कृपा और अनुग्रहसे इस ज्ञानके द्वार खुलते हैं।

विश्वके इतिहासका विपरीत दर्शन

पहले कहा गया है, उसके अनुसार राज्य, ईश्वर, धर्म और सत्यके विरुद्ध फ्रांसमें सन् १७८९ ई० में एक विद्रोह खड़ा हुआ। उसके फलस्वरूप पहले जो धर्मदृष्टि थी, उससे उलटी ही दृष्टि चालू हो गयी। ईश्वरकी नियतिके नियम तो कार्य करते ही चले जाते हैं। इस प्रकार फ्रांसमें तो उस विद्रोहके कारण भीतर-ही-भीतर यादवस्थली हो गयी। नेपोलियन सम्राट्के रूपमें आ पहुँचा। वहाँके लाखों मनुष्य जिन्होंने हाँ-में-हाँ मिलाकर विद्रोहको बढ़ाया था, यूरोपके नेपोलियनकी लड़ाईमें कट मरे। समाजका पतन और अनाचरण अधोगति हो गयी। फ्रांसमें कितने ही राज्य-विधान बदले गये, परंतु अबतक एकका भी ठिकाना न लगा और इस कथित 'महाराज्य' ने जर्मनीसे कितनी ही हार खायी और उसकी ताबेदारी की। 'अबतक तुम्हें समझ नहीं आयी' मानो इस प्रकार प्रकृति देवी कहती हों। साथ ही, नास्तिकोंको उड़ाती हुई कैथोलिक—आस्तिक-सम्प्रदायकी—सत्ताधीशता भी अबतक रह-रहकर आती रहती है। इस देशके पश्चात् लोकतन्त्रका प्रवर्तन करनेवाले दो महान् देशों—इंग्लैंड और अमेरिकाकी भी दशा देखिये। धर्म-श्रद्धाके विरोधी बेकनके विज्ञानवाद, डार्विनके उत्क्रान्तिवाद और मिलके स्वच्छन्दवादने इंग्लैंडकी बुद्धिको विपरीत कर डाला। उस देशमें भी 'सिविल वार' तो राजाके विरुद्ध हो ही चुकी थी। एक राजाको फाँसीपर चढ़ाया गया और दूसरेको धर्मकी रक्षा करते समय निर्वासित कर दिया गया; परंतु ईश्वरने इतनी अच्छी बुद्धि दी कि उसके जानेके बाद दूसरा राजा ही आया। परंतु १८३२ के बाद लोकशाही आ गयी। नशा अधिक चढ़ा। भारत आदि देशोंको

खूब लूटा गया। इसका फल भी देखनेमें आया। पहले युद्धमें देश खूब नष्ट-भ्रष्ट हुआ, किंतु उस बार उसको संरक्षकोंने ही बचाया। दूसरे विश्वयुद्धमें भी लिबरल दलमेंसे संरक्षक बने हुए पक्के अनुभवी महानीतिज्ञ चर्चिलने ही बचाया। केवल देश ही नष्ट-भ्रष्ट नहीं हुआ, बल्कि विपरीत बुद्धिवाले लोगोंने ऐसे महान् उपकारकके आधिपत्यको छीन लिया। अस्थिर बुद्धिवाली लोकशाहीने अपने ऐश्वर्य, अन्ताराष्ट्रिय नेतृत्व और भारतदेश सभीको गँवा दिया। फिर बुद्धि आनेपर उसी चर्चिलको वापस लाया गया, तब कहीं कुछ ठिकाना लगा। यूनाइटेड स्टेटकी तो बात ही निराली है। वहाँ सिविल वार भी हो चुकी है। बहुतेरे प्रेसिडेंट और उच्च अधिकारियोंके खून हो गये। दिन-दहाड़े बड़े-बड़े शहरोंमें लूट-मार हुई। हालीवुडके नाइट क्लबोंकी प्रवृत्तियाँ धड़ल्लेसे चलती रहीं; करोंकी अधिकता और महँगाई असाधारण रीतिसे वहाँ बढ़ गयी और मनुष्योंके ऊपर अणुबम फेंकनेका दुनियाँमें बड़े-से-बड़ा मानवापराध उसने किया। अब वह डालरकी मदद देकर खोयी इज्जत पुनः प्राप्त करना चाहता है, परंतु 'बूँदसे बिगड़ी हौजसे सुधरती नहीं है।' और उसने दूसरोंके मामलेमें दखल न करनेका सिद्धान्त छोड़ दिया है, इसी प्रकार इंग्लैंडने कदम फूँक-फूँक बनाया हुआ मुक्त व्यापारका सिद्धान्त छोड़ दिया है। फ्रांसके विद्रोहके सिद्धान्तोंने बड़े-बड़े देशोंमें जब ऐसी स्थिति पैदा कर दी, तब दूसरे अनुकरण करनेवालोंकी तो बात ही क्या है? जर्मनीमें कैसरने अपने राजारूपी रूपमें न रहकर, कुलमुख्तार बनने जाकर साम्राज्यको सर्वथा खो दिया और हिटलरके अधिनायकतन्त्रने वैज्ञानिक जर्मनीको नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। यही हालत राजाको रखते हुए भी लोकतन्त्रकी नकाबमें अधिनायकतन्त्र चलानेवाले और वाणिज्यव्यवसायमें दक्ष इटलीकी हुई। रूसने जारको उखाड़ फेंका, कुलमुख्तारी और लाल झंडा देशमें आ गया; दुनियाँको डरा देनेवाली त्रासपद्धतियाँ तथा एकचक्र राज्य चलाना शुरू किया। अभी उसे पचास वर्ष भी नहीं होने पाये कि दुनियाँ घबरा उठी। कहते हैं कि रूसमें अराजकतावाद, अनार्किज्म, निहीलिज्म, अनीश्वरवादका जोर बहुत था। प्रकृतिका ध्वजदण्ड किसीसे नहीं टूटा, प्रकृतिको हमने जीत लिया है—यों कहनेवालोंकी जगदम्बा मन्द-मन्द मुसकराती हुई उलटा व्याकुल कर रही है!

उपसंहार

धर्म, जिसकी अतर्क्य, अमोघ और अप्रतिहत शक्ति विश्वको रमा रही है, उसीके द्वारा सर्वतः नियन्त्रित धर्म-राज्य ही वर्तमान तथा भविष्यके दुःख, परिताप तथा दुर्बुद्धिके नाशके लिये अमोघ उपाय है। इसके अनेकों ग्रन्थ तथा अनेकों तत्त्वज्ञानी हैं। प्रत्येक देशके पवित्र ग्रन्थोंने इस ओर अंगुलिनिर्देश किया है, तथापि विज्ञान और व्यवहारके विद्वानोंको मान्य भविष्यकी सुनिश्चितता और भवितव्यता ऐसी है कि जैसा होना होता है वैसी ही भावी सूझ पड़ती है। इस समय मनुष्यको बम-वैराग्य हो गया है और भयकी पराकाष्ठामें वे सुलहशान्तिका शोरगुल मचा रहे हैं। परंतु इन सबका मौलिक उपाय सत्य, दया, तप, शौच, ईश्वरभक्ति तथा औपनिषद ज्ञानके सिवा और कुछ नहीं है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि मैं पुकारकर कहता हूँ —

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ?

'धर्मसे अर्थ और काम दोनोंकी प्राप्ति होती है, फिर लोग इसका सेवन क्यों नहीं करते?' परम सेव्य क्या है, इसका ज्ञान और प्रेरणा देनेवाला व्यासके समान कौन होगा? मैंने अपने 'राजर्षि रन्तिदेव' काव्यमें दूसरे देशोंके इतिहासके साथ भारतीय राजाओंके इतिहासका एक सामान्य पृष्ठ अश्रुप्रवाहके साथ गाया है। वह चित्र इस प्रकार है—

'वहाँ कुत्तोंसे घिरा हुआ एक अतिथि आया, उसने कहा—हे राजन्! मैं और ये कुत्ते, सब भूखे हैं।

स्वामीसे सती बोली, 'आज यह हमारे पूर्वपुण्यके फलसे सौभाग्यवश नये अतिथि घर आये हैं।' उसने सारा अन्न उनको दे दिया और सबको बड़े भाव—आदर-सत्कारपूर्वक प्रेमसे प्रणाम किया। जो सबके अंदर बस रहा है वह इस सारी लीलाको देख रहा था, वह हँसकर स्नेहपूर्वक धैर्यको देखने लगा। अमृतकी वर्षा हो रही थी।'

उसके अखण्ड राज्यमें अन्धकार नहीं है। दुःख नहीं है, शोक नहीं है। इस राज्यकी ओर प्रगति करनेके लिये सारे राज्य, महाराज्य और साम्राज्य हैं। इसके विषयमें ऋषि-मुनिप्रणीत दुनियाँमें फैले हुए पुष्कल साधन और साहित्य ग्रन्थ हैं। मेरे-जैसा जगदम्बाका एक नन्हा-सा बालक क्या कह, सुन और समझ सकता है? यह तो विराट् प्रभुसे प्रार्थना और आँखोंसे अश्रु-प्रवाह करते हुए कहता है—

नयणां म्हारां नीतर कोई ल्यो नयणांनो धार।'

यानी आँखें मेरी नितर रही हैं; कोई इस अश्रुप्रवाहको ले ले।

दो वृद्धाएँ

(लेखक—श्रीरमणलाल सोनी)

गाँवके आखिरी कोनेमें दो वृद्धाएँ रहती थीं, दोनोंके घरकी दीवाल एक थी। घरके सामने छोटे-से टीलेपर साधु-संतोंका एक आश्रम था। दोनों बुढ़िया आश्रममें काम करने जातीं। संतोंकी कृपासे उन्हें कभी अन्न-वस्त्रका अभाव न हुआ।

एक साथ रहतीं, एक साथ काम करतीं, फिर भी दोनोंके स्वभावमें जमीन-आसमानका अन्तर था। एक उदार थी, देने योग्य तो उसके पास नहींके बराबर ही था, परंतु अपने-जैसे गरीबोंको समय-समयपर कुछ-न-कुछ जरूर दिया करती थी। दूसरी कंजूस थी; देने योग्य उसके पास बहुत कुछ एकत्रित हुआ था, परंतु कभी किसीको कुछ भी नहीं देती थी।

एक संध्याको गगनमें बादल गरजने लगे, बिजली चमकने लगी और आँधी आरम्भ हुई। वृक्ष और मनुष्य, पशु और पक्षी, जीव और निर्जीव सभी काँपने लगे। मूसलधार जल-वृष्टि आरम्भ हुई। दोनों बुढ़िया अपने-अपने घरोंमें घुस चुकी थीं। अचानक कंजूस बुढ़ियाके दरवाजेपर टकोरे सुनायी दिये। बुढ़िया ब्यालू करने बैठी थी। शायद कोई तूफानमें फँसा हुआ मुसाफिर होगा, जो ब्यालूमें हिस्सा चाहेगा। ऐसा सोचकर बुढ़ियाने जल्दी-जल्दी जितना खा सकती थी, खा लिया। जो बचा उसको ढक दिया और तब निवृत्त होकर दरवाजा खोला। खोलते-खोलते बोली—रात-दिन न जाने कहाँसे ऐसी आफत चली आती है, पलभर भी आरामतक नहीं करने देती।

परंतु ज्यों ही उसने दरवाजा खोला—एक सौम्य शान्त साधुकी मूर्ति उसे दिखायी पड़ी। बुढ़िया स्तब्ध हो गयी। साधुने आँधीसे बचनेके लिये सिरपर एक मोटी बोरी डाल रक्खी थी। भीगी बोरीसे पानीकी बूँदें टपक रही थीं। रोटीका एक टुकड़ा मिलेगा मैया? साधुने मौन तोड़ा। बुढ़िया जानती थी कि ऐसे साधु-संत जरा-सी सेवाके बदले बहुत कुछ दे जाते हैं, इसलिये उसने तुरंत ही भोजनकी थाली हाजिर की। बदलेमें बहुत मिलनेकी आशा हो, तब थोड़ा-सा दे देनेमें बुढ़िया भला क्यों हिचकिचाने लगी?

साधु भोजन करने बैठे। वृद्धा साधुके मुँहकी ओर देखती ही रही। साधुके चेहरेपर एक अद्वितीय तेज झलक रहा था। आश्रमके सभी साधुओंको वह पहचानती थी, पर इनको कभी न देखा था। इनके चेहरेपर ऐसी सुकोमल नम्रता और पवित्रता थी कि प्रथम दृष्टिमें ही इनके अन्तस्तलका आरपार देखा जा सकता था। पर वृद्धाको यह देखनेका अवकाश कहाँ? साधु कौन है? उससे अधिक साधु क्या लाया है? यह जाननेके लिये वह आतुर थी! 'कितना भयंकर तूफान है'—साधु बोले। धनवानोंकी तो चिन्ता नहीं, पर बेचारे निरीह निर्धनोंका क्या होगा? अनाथोंका कौन? यदि संसारमें साधु-संतोंकी कृपादृष्टि न होती तो मुझ-जैसी गरीबकी क्या दशा होती भगवन्!' वृद्धाने कहा। 'इसीलिये तो मैया! मैं तेरे दरवाजेपर आया हूँ। जो भूखेको अन्न और वस्त्रहीनको वस्त्र देता है, वह धन्य है, स्वर्गकी सभी सीढ़ियाँ उसके पास हैं' साधुने कहा—उनके मुँहपर दीप्ति दिखी।

'क्या कहते हैं उसके भाग्यको?' साधु उदारतासे कुछ दे जायगा, इस आशामें हर्षित हो बुढ़िया बोली।

'माँ! तेरे भाग्यकी बलिहारी है, तुझसे भी अधिक गरीब और दुखी लोगोंके लिये मदद माँगने मैं यहाँ आया हूँ। दो अपरिचित महिलाएँ आश्रममें आश्रय-हेतु आयी हैं, बिजली गिरनेसे दोनोंके घर गिरकर ढेर हो गये हैं। घरका सब कुछ स्वाहा हो गया है। बेचारी निष्किंचन और निराधार बुढ़िया····आश्रमके सभी खण्ड ऐसे

ही निराश्रितोंसे भर गये हैं। फिर भी हमने उन्हें आश्रय दिया है, परंतु पहनने-ओढ़नेका हमारे पास कुछ भी तो नहीं है····तुम यदि आजकी रातभरके लिये कुछ ओढ़ने-बिछानेको दे दो तो सुबह जब कुछ लोग चले जायँगे, हम तुम्हें लौटा देंगे। तुम्हारे तो सुरक्षित घर है, इसलिये कुछ-न-कुछ जरूर दे सकोगी।' साधुने मदद माँगी, बुढ़िया निराश हो गयी, उसकी आवाज मंद हो गयी—'महाराज! कुछ दूर पधारते तो धनवानोंकी कहाँ कमी थी, मुझ गरीबका ही घर आपको मिला, मेरी हालत ही दान लेने-जैसी है, इसका भी तो ख्याल किया होता।'

'एक कम्बल भी नहीं दे सकोगी माई? वे बेचारी ठंडसे काँप रही हैं।' बुढ़िया चौंकी, अभी थोड़े ही दिनों पहले उसे एक सुन्दर गरम कम्बल मिला था, वह कमरेमें गयी और सोचने लगी। 'नया कम्बल तो कैसे दे दिया जाय।' उसने पुराना कम्बल उठाया और उसे भी तह लगाकर रख दिया। पुराने कम्बलके भी उसे अनेक गुण याद आ रहे थे,—'पूरे सात सालसे इसका उपयोग करती हूँ, फिर भी अभी वैसा ही है, वे भटकती बुढ़िया न जाने कहाँसे आयी होंगी, नींदमें लातें मारकर मेरे कम्बलको न जाने कैसा कर डालेंगीं? भटकनेवालोंको क्या भान रहेगा? जिंदगीमें कभी कम्बल देखा हो तब न····वे तो बोरियोंपर सोनेवाली····।'

ज्यों-ज्यों वह सोचती गयी, त्यों-त्यों उसे अपना अनुमान सच्चा प्रतीत होने लगा। अचानक उसे याद आया ऐसे लोगोंमें बहुत-से रोगी होते हैं, उनके लिये कम्बल कैसे दिया जाय? दो साल पहले कुछ रोगी आये थे, उन्होंने जिन वस्तुओंका उपयोग किया था, उन्हें जला डालना पड़ा था। कहीं मेरे कम्बलकी भी वही दशा हो तो! इतना सुन्दर कम्बल कैसे जला डाला जाय, अभी तो यह दस साल और काम दे सकेगा। फिर एक पतली रजाई उठायी, परंतु तुरंत ही न····न····न यह तो मेरे बापके घरकी है, कहकर रख दी। एक पुरानी जीर्ण चद्दरको जो दीवालपर लटक रही थी, लेकर समेटने लगी। परंतु फिर सोचा ऐरे-गैरे दिनोंमें यही चद्दर कम्बलका काम देती है, इसे कैसे दे दूँ? दुःखित हृदयसे एक दूसरी जीर्ण चादर लेकर वह बाहर आयी। 'आज यह ऐसी दीखती है, पर जब खरीदी उस समय बहुत ही सुन्दर थी, आठ आनेसे तो कम नहीं लगे होंगे।'

'इससे अधिक आप कुछ भी नहीं दे सकतीं?' साधुने चादरको कंधेपर डालते हुए पूछा। 'हाय-हाय मेरे घरमें देने योग्य क्या है? अब क्या दूँ? सारी रात मुझे भी तो अब ठंडमें ठिठुर-ठिठुरकर काटनी पड़ेगी।'

'बेचारी औरतें ठंडीमें ठिठुरती हैं। तुम्हारी तरह ही वृद्धा हैं। सब कुछ गवाँ बैठी हैं। कुछ तो दे दो।'

किंतु बुढ़ियाके पत्थर-दिलपर कोई प्रभाव न पड़ा। साधु वहाँसे निकल पासकी दूसरी बुढ़ियाके घर गया। यहाँ भी उसने वही बात कही। निराधार वृद्धाओंकी हालत सुनकर वृद्धाका हृदय भर आया। ठीक ही है, 'घायलकी गति घायल जाने।' वह बोली—'भगवान्‌की दयासे मुझे अभी ही यह नया कम्बल मिला है, लीजिये, ले जाइये' और उसने कम्बल दे दिया। तुरंत ही बोली—'यह पुराना भी लेते जाइये, काम आयेगा, यह रजाई भी और यह चादर भी यहाँ किस काम आयेगी? एक रात तो मैं किसी तरह भी काट लूँगी, बेचारी वे औरतें ठंडसे ठिठुर रही होंगी। मेरे कपड़े भी उनके काम आयँगे, इन्हें भी ले जाइये।'

बुढ़ियाने जितना दिया उतना साधुने चुपचाप ले लिया। उसके मुखपर उज्ज्वल-स्मित लहरा रहा था।

'लीजिये, यह भी ले जाइये और यह भी, रातमें बेचारा और कोई भूला-भटका आ जायगा तो काम आयेगा। मैं तो बोरीपर ही रात काट लूँगी।' बुढ़ियाने करीब-करीब घरका सब कुछ दे दिया।

साधुके जानेके बाद आँधी अधीर हो उठी, नभमें

भयंकर गर्जना होने लगी, प्रलयंकारी पवन चलने लगा, वृक्ष धड़ाधड़ गिरने लगे। अचानक एक भयंकर कोड़े-की तरह बिजली चमकी और उन दोनों वृद्धाओंके मकानोंपर गिरकर जमीनमें उतर गयी। वृद्धाएँ बच गयीं, परंतु दोनोंके घर और घरका सब कुछ स्वाहा हो गया।

दुःखसे बिलखती दोनों वृद्धाएँ तूफानमें ठोकरें खाने लगीं। 'इधर चलिये वहाँ मेरे आश्रममें'—उसी साधुकी सुमधुर वाणी सुन पड़ी। दोनोंका हाथ पकड़कर साधु उनको आश्रममें ले आया। दीवालके पास छप्परके नीचे उदार वृद्धाकी दी हुई सभी वस्तुएँ ज्यों-की-त्यों रक्खी हुई थीं। 'यह तेरा है और तुझे वापस मिलता है, माई!' साधुने कहा! 'तूने जो दान दिया वह खुदको ही दिया है।' 'परंतु उन दोनों वृद्धाओंका क्या हुआ?' उदार वृद्धाने चिन्तित हो पूछा।

'वे दोनों तुम ही हो, तुमने उदार बनकर निराश्रितों के लिये जो कुछ बचाया, वही परमात्माने तुम्हारे लिये बचाया है।'—साधु बोले।

फिर दूसरी वृद्धाकी ओर देखकर उन्होंने जीर्ण चादर देते हुए कहा—'तेरा सब कुछ नष्ट हो गया, सिर्फ इतना ही बचा है; क्योंकि इतना ही तूने बचाया था। आज ऐसी दीखती है, जब ली थी तब बहुत सुन्दर थी, आठ आनेसे कम नहीं लगा होगा।' कंजूस बुढ़िया कुछ न बोली। सिर्फ मुँह नीचा किये रही।

साधु सिर्फ धीरेसे हँसे, बिजलीकी एक चमकने रात्रिके अन्धकारमें साधुकी सारी कायाको तेजोमय बना डाला।

[अनुवादक—श्रीजगशंकर पंड्या]

ममता तू न गयी मेरे मन तें!

[मोह, कारण और निवारण]

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[भाग ३०, सं० ८, पृष्ठ ११४८ से आगे]

(४)

मैं बी० ए० पास कर लूँ।
मैं एम्० ए० पास कर लूँ।
मैं डाक्टर बन जाऊँ।
मैं आचार्य बन जाऊँ।
मैं साहित्यरत्न, साहित्याचार्य, विद्यावाचस्पति बन जाऊँ।

यह डिग्रियोंका मोह, विद्वान् कहलानेका मोह, भाषाशास्त्री, भाषाविद्, सर्वज्ञ बननेका मोह कितना थोथा है—इसका पता तभी चलता है, जब ऊँट पहाड़के नीचे पहुँचता है।

× × ×

बड़े-बड़े डिग्रीयाफ्ता लोगोंसे मिलने, बात करनेका सौभाग्य मुझे मिला है, मिलता है; पर सबसे मिलकर एक ही अनुभव होता है—

जाना था कि इल्म से कुछ जानेंगे।
जाना तो यही जाना कि कुछ भी नहीं जाना!!

बड़ी-से-बड़ी डिग्रियाँ पा लेना और बात है, विषयका ज्ञान प्राप्त कर लेना और। बी० ए०, एम्० ए०, आचार्य बन जानेसे कोई किसी विषयमें पारङ्गत हो जायगा—ऐसा सोचना ही गलत है।

तभी तो भर्तृहरिने कहा था—

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित्किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

ज्ञानका एक कण मिला कि आदमी बौराया! फिर तो वह अपनेको तीसमारखाँ समझने ही लगता है; पर जब

वह ज्ञानियोंके सम्पर्कमें आता है, तब ज्ञानका, विद्याका नशा उतरते देर नहीं !

× × ×

पर हम हैं कि डिग्रियोंके पीछे पागल हैं !

हमारी नस-नसमें डिग्रियोंका मोह घुसा बैठा है।

कैसा थोथा है यह मोह !

कहाँतक कोई पढ़ेगा, कहाँतक ज्ञान प्राप्त करेगा ! कितना ही पढ़िये, कितनी ही विद्या प्राप्त कीजिये, कमी बनी ही रहेगी। न्यूटनने कुछ ग़लत थोड़े ही कहा था—

"Alas ! I am only like a child picking up pebbles, on the shore of the Giant Ocean of truth."

'ज्ञानका, सत्यका अनन्त सागर मेरे आगे लहरा रहा है, मैं तो केवल बच्चेकी तरह उसके किनारेके कंकड़ चुन रहा हूँ !'

चुनिये कंकड़ !

कंकड़ भी आप कितने चुन पायँगे ?

× × ×

कहते हैं कि एक ठाकुर और एक सेठमें होड़ लगी।

मूँछोंकी होड़।

ठाकुर तो ठाकुर।

भूखे प्राण भले तजैं केहरि खरु नहिं खाहिं।
चातक प्यासे ही रहैं, बिन स्वाती न अवाहिं॥

ठाकुर साहबने मूँछें सतर रखनेके लिये सैकड़ों रुपयोंपर हँसते-हँसते पानी फिर जाने दिया।

पर सेठजीका नंबर आया तो उन्होंने खटसे मूँछें नीची कर लीं। बोले—अजी, इसमें रक्खा ही क्या है ! मूँछोंकी शानके लिये सैकड़ों रुपयोंपर पानी फेरना बेवकूफी है, सरासर बेवकूफी !

× × ×

हम आप इन सेठजीपर हँसते हैं, ठाकुर साहबकी पीठ ठोंकते हैं—वाह पठ्ठे ! खूब किया। पैसा गया तो गया, शान तो रही !

पर सच पूछिये तो शान कुछ नहीं, अहंकारका एक विकृत रूपमात्र है।

न उसमें कोई जड़, न उसमें कोई दम !

× × ×

और जाति, कुल, परम्परा, संस्कृति ?

इन सबका मोह कौन किसीसे कम है ? इन सब मान्यताओंके मोहमें फँसकर मनुष्य दूसरोंसे अपनेको श्रेष्ठ मानता है, अपने ही विकास और विस्तारकी बात सोचता है और पक्षपातका चश्मा लगाकर सत्यका हनन करनेको भी तैयार हो जाता है।

× × ×

जाति, कुल, परम्परा, संस्कृतिके ऐसे मोह लोगोंकी अक्लपर पर्दा डाल देते हैं। इनके चलते साम्प्रदायिकताका विषवृक्ष पनपता है, युद्ध होते हैं, लड़ाइयाँ ठनती हैं। इन्हींके कारण अयोग्य व्यक्ति उच्च पदोंपर बैठा दिये जाते हैं, मूर्खोंको विद्वान् बता दिया जाता है और समाज तथा देशको पतनकी ओर घसीटा जाता है !

× × ×

मोह तो स्थानका भी होता है।

प्रान्तोंकी नयी सीमा-निर्धारणके प्रश्नको लेकर इतनी मारकाट क्यों हुई ? इसीलिये न ? वर्ना, जमीनका कोई टुकड़ा इधर या उधर। क्या बनता-बिगड़ता है उससे ?

प्रसिद्ध है—

चना चबेना गंगजल जो पुरवै करतार।
कासी कबहुँ न छाड़िये, विश्वनाथ दरबार॥

तीर्थोंका मोह, बाप-दादोंकी जमीनका मोह, घरका मोह, प्रान्तका मोह, देशका मोह हमें खूब सताता है। कबीरकी तरह विरले ही कह पाते हैं—

'जो 'कबिरा' कासी मरै, रामहिं कौन निहोर !'

× × ×

कल्पित धारणाओंका मोह !

किसी विषयमें, किसीके प्रति हमने अपने मनमें कोई धारणा बना ली। बस, अब मैं उसीको कसके पकड़े बैठा हूँ। भले ही उसमें कोई दम न हो, कोई तथ्य न हो, कोई असलियत न हो, मैं उसे छोड़ नहीं सकता। बँदरियाका बच्चा अपनी माँसे जितने जोरसे चिपटता है, उससे भी अधिक जोरसे हम इन कल्पित धारणाओंसे चिपट जाते हैं।

इन धारणाओंके प्रति हमारा मोह इतना बढ़ जाता है कि गलत होनेपर भी हम उनसे विलग नहीं होना चाहते।

× × ×

और तो और, सेवा और त्यागतकका मोह होता है ! आज सौ रोगियोंकी सेवा की, कल दो सौकी सेवा करूँ,

आज दो संस्थाओंकी सेवा करता हूँ, कल पचासकी सेवा कर सकूँ—इस तरहके मोहमें फँसकर कभी-कभी मनुष्य कुछ भी नहीं कर पाता। अपनी सीमित शक्तिको इधर-उधर बिखेरकर वह अपनी सारी सेवा व्यर्थ कर डालता है!

त्यागके मोहमें पड़कर मनुष्य कभी-कभी दम्भ और आडम्बरपर भी कमर कस लेता है और यह तो है ही कि मिथ्याचारी कभी आत्मोन्नति कर नहीं सकता।

× × ×

संस्थाका मोह कौन किसीसे कम है!

अभी हालमें एक सेठजीके साथ मैं गया था एक व्यापारिक संस्थामें। उसके संचालक बहुत गिड़गिड़ाकर बोले सेठजीसे—'सेठजी! किसी तरह इस संस्थाको पैरोंपर खड़ा कर दीजिये।'

एक जमाना था जब ये संचालक महोदय जमीनपर नहीं, आसमानपर चलते थे। अपने आगे किसीको कुछ न गिनते। एक अन्य संस्थाके कर्णधार थे। स्याहको सफेद और सफेदको स्याह करना इनके हाथमें था। तभी कुछ ऐसा संयोग घटा कि ये वहाँसे दूधकी मक्खीकी तरह निकाल फेंके गये। जिस संस्थाको खून-पसीना एककर पुष्ट किया, वहींसे बुरी तरह ठुकरा दिये गये!

पर, 'बैठा बनिया क्या करे, इस कोठीका धान उस कोठी भरे।' आपने दूसरी संस्था खड़ी की। पूरा जोर मारा उसे चलानेका, परंतु सितारा बुलंदीपर था नहीं। बछिया बैठने-बैठनेको हुई; पर उन्होंने कंधा नहीं डाला। आज भी वे वही सपना देख रहे हैं,—'काश, हमारी संस्था एक बार फिर उठ खड़ी हो!'

× × ×

लोग जीवनके दस-दस पंद्रह-पंद्रह साल देकर कोई संस्था खड़ी करते हैं। फिर उसे विकसित करनेके मोहमें इतना फँस जाते हैं कि नीति-अनीतिको उठाकर ताकपर रख देते हैं।

एक संस्थाको, धर्मार्थ रजिस्ट्रीशुदा संस्थाको युद्धकालमें कुछ चीजोंकी बिक्रीका एकाधिकार मिल गया।

लाभका कोई पार न रहा।
जहाँ लाभ, वहाँ लोभ!

मेरे एक परिचित सज्जन उस संस्थाके एक डाइरेक्टर बना दिये गये। किसलिये?

पान-पत्तेके लिये उन्हें कुछ देकर हजारों रुपयेके झूठे वाउचरोंपर उनसे दस्तखत करा लिये जाते!

मुझे पता लगा तो मैंने दाँतोंतले उँगली दबायी—धर्मके नामपर ऐसा अधर्म! संस्थाके विकासका ऐसा झूठा मोह!

× × ×

कुछ लोग स्वयं अपने लिये छल-प्रपञ्च न करेंगे, परंतु अपनी संस्थाके लिये बेईमानी, अन्याय, शोषण करनेसे बाज न आयेंगे! सेवा और त्यागकी दुहाई देनेवाली कितनी ही संस्थाओंमें देशसेवाके नामपर कार्यकर्ताओंकी सुख-सुविधाओंका कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता। परंतु दूसरोंको त्यागका उपदेश देनेवाले स्वयं अपनी संस्थाका पैसा अलल्ले-तलल्लेसे उड़ाते हैं!

कैसा थोथा मोह!

× × ×

धर्म, अर्थ, काम, मोक्षका भी मोह होता है।

धर्म क्या है, यह तो विरले ही जानते हैं; पर हर व्यक्तिने अपना कुछ धर्म मान रक्खा है और उस मान्यताके मोहमें पड़कर वह न जाने क्या-क्या करता है।

× × ×

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'जो चीज मुझे खलती है, बुरी लगती है, कष्ट देती है, वह दूसरोंको भी खलेगी। इसलिये उसे न किया जाय।'

धर्मके इस 'सर्वस्व' को हम भुला बैठे हैं।

पर धर्मके नामपर हम रात-दिन ऐसी असंख्य बातें करते रहते हैं, जिनसे दूसरोंको कष्ट होता है।

मन्दिरमें जाकर 'मो सम कौन कुटिल खल कामी'-जैसे पदोंको जोर-जोरसे गा लेना उत्तम है, पर यही धर्म नहीं है। धर्मका तत्त्व अत्यन्त गहन है। उसमें तो पग-पगपर विवेककी आवश्यकता है और धर्मके तत्त्वको जीवनमें उतारनेकी आवश्यकता है। बाह्याचारोंमें ही हमने धर्म मान रक्खा है, अन्तरकी साधनापर हम जोर नहीं देते। पर हमें सोचना चाहिये कि अष्टाङ्गयोगमें क्यों यमका स्थान पहला है, नियमका दूसरा। इसीसे कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहको हम पहले अपने जीवनका अङ्ग बना लें, तब शौचादिपर जोर दें।

पर हमें तो बाह्य धार्मिकताका मोह सता रहा है।

× × ×

अर्थ तो हमारे जीवनका मूलमन्त्र बन बैठा है।

येन केन प्रकारेण, चोरी और बेईमानीसे, शोषण और अत्याचारसे हमें धन मिलना चाहिये।

अर्थकी शुचिताकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। अर्थके मोहमें पड़कर हम दुनिया भरके पाप करते हैं। 'जहाँ नेकी, तहाँ बरकत'—की बात तो हमने सर्वथा ही भुलादीहै।

हमें याद रखना चाहिये कि 'योऽर्थशुचिः स शुचिः!'

× × ×

काम हमारे धर्मका तीसरा पाया ठहरा।

उसका मोह तो हमारे रोम-रोममें घुसा बैठा है।

विकारोंका शमन करते-करते, आत्मशुद्धिद्वारा हमें परमेश्वरको पहचानना है। कामके इस लक्ष्यको तो हमने उठाकर ताकपर रख दिया है और विषय-भोगोंको उसका पर्याय मान लिया है।

कैसी विडम्बना है कामकी!

× × ×

—और मोक्ष?

उसका सब्जबाग कौन कम आकर्षक है!

सारा जीवन चाहे जैसा बिताते रहते हैं; पर हम सोच लेते हैं कि अन्तिम प्रहरमें थोड़ा-सा दान-पुण्य, पूजा-पाठ कर लेनेसे, कसाईके खूँटेपर जानेके लिये तैयार मरियल बछियाकी पूँछ पकड़कर हम वैतरणी पार कर लेंगे, मोक्ष प्राप्त कर लेंगे!

ऐरनकी चोरी करै, करै सुई को दान।
ऊँचे चढ़कर देखते, कब आसी बिमान॥

भला, ऐसे भी कहीं मोक्ष मिलता है?

मोक्षके लिये तो जीवनका क्षण-क्षण पवित्र होना चाहिये।

× × ×

जीवन और जगत्‌का मोह जबतक हमारे भीतर भरा पड़ा है, विषयोंमें जबतक आसक्ति बनी है, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर-जैसे विकार हमपर हावी हैं, तबतक उद्धार कहाँ?

इन असंख्य बन्धनोंके रहते मुक्तिकी कल्पना झूठी है।

एक ब्याधि बस नर मरहिं, ए असाधि बहु ब्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ, सो किमि लहै समाधि॥

कर्मफलके आश्रयका त्याग

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

इस वर्षके दूसरे अङ्कमें मैंने श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवाले सज्जनोंसे प्रार्थना की थी कि गीताके श्लोकोंका हमें इस दृष्टिसे मनन करना चाहिये कि किस श्लोकका हमारे जीवनके साथ क्या सम्बन्ध है, हम वर्तमानमें ही किस प्रकार अपने जीवनको भगवान्‌के उपदेशानुसार सफल बना सकते हैं। इसके साथ-साथ मैंने पाठकोंके सामने विचार-विनिमयके रूपमें गीता अध्याय १८, श्लोक ३० पर अपने विचार भी रक्खे थे। सम्भव है, सुज्ञ पाठकोंने उनपर विचार करनेकी कृपा की होगी। मुझे अपने कुछ मित्रोंकी ओरसे यह प्रेरणा मिली कि मैं समय-समयपर अन्य श्लोकोंपर भी अपने विचार प्रकट किया करूँ। अतः इस लेखमें छठे अध्यायके प्रथम श्लोकपर अपने विचार पाठकोंके सामने रख रहा हूँ। आशा है कि विज्ञ पाठकगण पहलेकी भाँति ही इस लेखको भी अपने विचारका विषय बनायेंगे और मेरी भूलोंका सुधार करनेके लिये मुझे सूचना देनेकी कृपा करेंगे।

श्लोक इस प्रकार है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

'जो मनुष्य कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी है और योगी भी है। अग्निका त्याग कर देनेवाला (यदि कर्मफलका आश्रय लेनेवाला है तो वह संन्यासी और योगी) नहीं है तथा क्रियाका त्याग कर देनेवाला भी (यदि कर्मफलका आश्रय लेनेवाला है तो वह संन्यासी और योगी) नहीं है।'

इस श्लोकके पूर्वार्धमें दो साधन बताये गये हैं—एक तो कर्मफलका आश्रय न लेना, जो भावात्मक है, दूसरा करने योग्य कर्मोंको करना, जो क्रियात्मक है। उत्तरार्धमें उक्त साधनसे युक्त पुरुषकी महिमाका

वर्णन है। अतः इस श्लोकके अनुसार साधनयुक्त जीवन बनानेके लिये प्रथम साधनके विषयमें यह समझना परम आवश्यक हो जाता है कि कर्मफल क्या है, उसका आश्रय लेनेका क्या स्वरूप है और न लेनेका क्या स्वरूप है ?

विचार करनेपर समझमें आ सकता है कि मन, बुद्धि, इन्द्रियों और पञ्च महाभूतोंका समूह यह मनुष्य-शरीर तथा अन्य व्यक्ति, पदार्थ, अवस्था और परिस्थिति आदि जो कुछ भी मनुष्यको प्राप्त है एवं जो कुछ भी इस लोक या परलोकमें प्राप्त हो सकते हैं अथवा जिनके प्राप्त होनेकी सम्भावना की जा सकती है, वे सभी कर्मफलके अन्तर्गत हैं। इस दृष्टिसे इनमेंसे किसीको भी अपना मानना; इनके सम्बन्धसे अपनेमें बलवान्, शक्तिशाली, बुद्धिमान्, मननशील, कुलीन, बड़ा, छोटा, धनी, दरिद्र आदि भावोंकी स्थापना कर लेना; मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा करना; किसी प्रकारके पद या अधिकार आदिकी लालसा रखना तथा अन्य किसी प्रकारके सुखभोगकी या दुःख-निवृत्तिकी आशा करना आदि सब कर्मफलका आश्रय लेना है।

इस विषयको भलीभाँति स्पष्ट समझनेके लिये इसे निम्नलिखित प्रकारसे चार भागोंमें बाँटकर समझना चाहिये—

(१) प्रारब्ध कर्म-फलके रूपमें जो यह मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिका समूह वर्तमान मनुष्य-शरीर मिला है तथा जो कुछ भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थिति एवं धन, सम्पत्ति, जाति, वर्ण, पद, अधिकार आदि वर्तमानमें प्राप्त है, यह तो प्राप्त कर्मफल है।

(२) प्रारब्ध कर्म-फलके रूपमें अबसे आगे मृत्यु-पर्यन्त जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ समय-समयपर मिलती और बदलती रहेंगी तथा जिनके मिलनेकी मनुष्य कल्पना कर सकता है, वह सब अप्राप्त कर्म-फलका समुदाय है।

(३) वर्तमान जीवनमें किये जानेवाले नये कर्मोंका फल, जो कर्मके बाद तत्काल प्रत्यक्ष मिलता हुआ प्रतीत होता है—जैसे भोजन करनेपर स्वादका सुख-दुःख यह कर्मका दृष्ट फल-समुदाय है।

(४) वर्तमान जीवनमें किये जानेवाले नये कर्मोंका वह फल जो भविष्यमें प्राप्त होनेवाला बताया जाता है, जिसके भोगका विधान अभी नहीं बना है, वह कर्मफलका अदृष्ट समुदाय है।

इन चार भागोंमें विभक्त कर्मफलका आश्रय लेना क्या है तथा साधकको उस आश्रयका किस प्रकार त्याग करना चाहिये, यह बात क्रमशः निम्नलिखित प्रकारसे समझनी चाहिये—

१. प्राप्त कर्मफलके समुदायमेंसे शरीरको अपना स्वरूप मानकर उसमें अहंभाव करना या उसमें ममता करना कि यह मेरा है अर्थात् यह मान लेना कि मन मेरा है, बुद्धि मेरी है, इन्द्रियाँ मेरी हैं, शरीरमें जो बल है, वह मेरा है, इन सबके द्वारा मैं अमुक-अमुक प्रकारका सुख-भोग कर रहा हूँ या कर सकता हूँ—इस प्रकार मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिके साथ सम्बन्ध स्थापित करके नाना प्रकारकी आशाओंके जालमें फँस जाना एवं इस शरीरसे सम्बन्धित जितने व्यक्ति और पदार्थ हैं, उन सबसे ममता और आसक्तिपूर्वक सम्बन्ध स्थापित करके यह मान लेना कि यह मेरा पिता है, यह माता है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरे देशका है, यह मेरे गाँवका है, यह मेरे मुहल्लेका है इत्यादि; तथा यह मेरा मकान है, यह मेरा धन है, यह मेरी जमीन है, यह मेरी भोगसामग्री है—इस प्रकारकी जितनी भी मान्यताएँ और स्वीकृतियाँ हैं, वे सभी प्राप्त कर्मफलका आश्रय लेनेके अन्तर्गत हैं। अतः मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिके समूह इस शरीरमें अहंता, ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना अर्थात् इसमें न तो यह भाव स्वीकार करना कि यह मैं हूँ और न यही स्वीकार करना कि यह मेरा है; अपनेको इस समुदाय-

से सर्वथा भिन्न, सर्वथा असङ्ग, इसका ज्ञाता और उदासीन समझना तथा शरीरसे सम्बन्धित व्यक्तियों और पदार्थोंको या किसी प्रकारकी परिस्थितिको भी अपनी न मानना, दृढ़भावसे यह निश्चय रखना कि ये सब उसी परम सत्यस्वरूप सर्वाधार अनन्तके हैं, जिसका यह समस्त विश्व है—इस प्रकार प्राप्त कर्म-फलके सम्बन्धका त्याग ही उसका आश्रय न लेना है।

२. अप्राप्त कर्मफल उसे कहते हैं जो वर्तमान कालमें प्राप्त नहीं है, किंतु इस जीवनकालमें ही जो समय-समयपर प्राप्त हो सकता है, जिसके मिलनेकी सम्भावना की जा सकती है। अमुक व्यक्ति मेरा सम्बन्धी है, उससे मेरा यह नाता है, अतः उससे मुझे अमुक सुख या दुःख मिलेगा या मिल सकता है; अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है, वह मर जाय या उसका अमुक प्रकारसे अनिष्ट हो जाय तो बड़ा अच्छा हो; यदि उसका बल बढ़ जायगा तो मैं संकटमें पड़ जाऊँगा। मुझे अमुक प्रकारसे धन-सम्पत्ति मिल जायगी, तब मैं अमुक प्रकारसे उसका उपभोग करूँगा—इस प्रकारकी विभिन्न परिस्थितियोंकी आशा-कामना और चिन्तन करते रहना यह अप्राप्त कर्मफलका आश्रय लेना है। इसके विपरीत किसी प्रकारकी अप्राप्त परिस्थितिकी न तो आशा करना, न उसका चिन्तन ही करना, सब प्रकारसे अनुकूलताके लालच और प्रतिकूलताके भयका त्याग करके पूर्णतया निश्चिन्त और निर्भय हो जाना—यह अप्राप्त कर्मफलका आश्रय न लेना है।

३. वर्तमान जीवनमें किये जानेवाले नये कर्मोंका दृष्ट फल वह है जो क्रियाके साथ-साथ उपभोगरूपमें मिलता हुआ प्रतीत होता है। उदाहरणके लिये सुमधुर गान, गाली और कर्कश स्वर तथा बड़ाई, प्यारके वचन और कठोर वचन आदि शब्दोंके श्रवण करनेमें; शीत, उष्ण, नरम और कठोर वस्तुओंका स्पर्श करनेमें; सुन्दर रूप और कुरूपको देखनेमें; सब प्रकारके रसोंका आस्वादन करनेमें तथा सुगन्ध और दुर्गन्धको सूँघनेमें अनुकूलता और प्रतिकूलताके कारण जो सुख-दुःखका उपभोग होता रहता है, वही हमारे नवीन कर्मोंका दृष्ट फल है। इस प्रकार प्राप्त अनुकूलताको सुरक्षित रखनेके लिये या प्रतिकूलताको दूर करनेके लिये तथा अप्राप्त अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्तिके लिये या अप्राप्त प्रतिकूलताके प्राप्त होनेकी आशङ्कासे उसे टालनेके लिये स्वेच्छापूर्वक नये कर्म करना—अर्थात् व्यापार आदिमें सफलता मिलनेकी आशासे, धन अथवा किसी पदार्थके मिलनेकी आशासे, रोगमुक्त होनेकी आशासे, नीरोगता सुरक्षित बनी रहे—इस आशासे या किसी कार्यके बिगड़नेके भयसे भयभीत होकर जो प्राप्त योग्यता, बल, पदार्थ और परिस्थिति आदिका उपयोग करना है—यही नवीन कर्मोंके दृष्ट-फलका आश्रय लेना है। इसलिये साधकद्वारा जो कर्तव्यरूपसे प्राप्त नये कर्म किये जायँ, उन सबको करनेमें किसी प्रकारके दृष्ट-फलसे अपना कोई सम्बन्ध न जोड़ना अर्थात् उसके बदलेमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, अधिकार, पद और अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करनेकी या प्रतिकूल परिस्थितिको दूर करनेकी किसी प्रकारकी भी कामना या आशा न रखना—यही नये कर्मोंके दृष्ट फलका आश्रय न लेना है।

४. वर्तमान जीवनमें किये जानेवाले कर्मोंका जो भी फल कालान्तरमें, इस लोकमें या परलोकमें मिलनेवाला है या जिसके मिलनेका विश्वास है, उसकी प्राप्तिकी आशा या कामना करके अर्थात् इस लोकमें यश, मान, प्रतिष्ठा, पुत्र, धन, पदार्थ आदि अनुकूल

परिस्थिति भविष्यमें मिलेगी या किसी प्रकारकी प्रतिकूल परिस्थिति जिसके मिलनेका उपक्रम दिखायी देता हो, वह टल जायगी—इस प्रकारकी आशा या कामना करके अथवा परलोकमें स्वर्गादिके सुखभोगकी या दुःख-निवृत्तिकी कामना करके जो नये कर्मोंका करना है वह नवीन कर्मोंके अदृष्ट-फलका आश्रय लेना है। अतएव कर्तव्यपालनरूप नये कर्मोंके बदलेमें ऐसी आशा या कामनाका न करना, जिसका सम्बन्ध इस लोक या परलोकमें कहीं भी भविष्यमें मिलनेवाले किसी प्रकारके सुखभोग या दुःखनिवृत्तिसे हो—यही नवीन कर्मोंके अदृष्ट-फलका आश्रय न लेना है।

इस प्रकार जो साधक न तो प्राप्त कर्मफलका अभिमान या उपभोग करता है, न उसके प्रति ममता या आसक्ति रखता है, न अप्राप्त कर्मफलकी आशा, कामना या उसका चिन्तन ही करता है, न वर्तमान कर्तव्यपालनरूप कर्मोंके दृष्ट-फलमें ममता और आसक्ति करके उससे किसी प्रकारका सम्बन्ध जोड़ता है तथा न उसके अदृष्ट-फलमें आसक्त होकर उसके मिलनेकी लालसा ही रखता है, वह सर्वथा कर्मफलका आश्रय न लेनेवाला कहा जा सकता है।

दूसरे साधनके विषयमें यह समझना आवश्यक है कि कौन-कौन-से कर्म करने योग्य हैं और उनको किस प्रकार और किस भावसे करना चाहिये। विचार करनेपर समझमें आ सकता है कि वर्ण, आश्रम, परिस्थिति, योग्यता, पद, अधिकार आदिके अनुरूप जिस समय जिसके लिये जिस कर्मका करना उचित है, जिसके करनेमें कभी किसीका भी किसी प्रकारका अहित न तो है और न उसकी कोई सम्भावना ही है अपितु जिसके करनेकी आवश्यकता है, जिसके करनेमें दूसरोंके अधिकारकी पूर्ति या रक्षा है, जिसको प्राप्त-शक्तिके द्वारा सहज-भावसे किया जा सकता है, जिसके करनेका विधान है, जिसमें अपने विवेकका या शास्त्रका विरोध नहीं है, वही करने योग्य कर्म है।

भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे मनुष्यको जो विवेक मिला है, वह किसी कर्मका फल नहीं है। अतः विवेकका आश्रय लेना कर्मफलका आश्रय लेना नहीं है। वह तो प्रभुकी कृपाका ही आश्रय है। विवेकके प्रकाशमें यह निर्णय करना कि कौन-सा कर्म तो करने योग्य है और कौन-सा करने योग्य नहीं है। यही विवेकका आश्रय लेना है। गीता अध्याय १६, श्लोक २४ में भगवान्‌ने जो यह बात कही है कि करनेयोग्य और न करनेयोग्य कर्मकी व्यवस्थामें शास्त्र प्रमाण है, उसका विवेकसे विरोध नहीं है; क्योंकि विशुद्ध अन्तःकरणवाले महापुरुषोंके विवेकमें ही शास्त्रोंका प्राकट्य होता है। कामनायुक्त मनुष्योंका विवेक छिपा रहता है, इस कारण उनके लिये शास्त्र ही विवेकका काम देता है।

उक्त प्रकारसे शास्त्रविधान और विवेकके प्रकाशमें करनेयोग्य कर्मका निर्णय करके जो कुछ वस्तु, व्यक्ति, बल, योग्यता और परिस्थिति प्राप्त है, उसका सदुपयोग करना ही करनेयोग्य कर्मका करना है, जिसका वर्णन पहले वाक्यमें किया गया है।

जब विवेकके प्रकाशमें निर्णय हो जाय कि अमुक कर्म इस समय मेरा कर्तव्य है, मुझे यह करना चाहिये, तब उस कामको बड़ी सावधानीके साथ पूरी शक्ति लगाकर धैर्य और उत्साहपूर्वक जिस प्रकार करना चाहिये, उस प्रकार पूरा करके, कर्म करनेकी वासना और आसक्तिका नाश करके संकल्परहित होता रहे, उसके करनेका अभिमान न करे। अपने मनमें उस कर्मके विषयमें किसी प्रकारका महत्त्व अङ्कित न करे। जगत्‌से जो कुछ मिला है, उसे लौटाकर अर्थात् सर्वहितकारी प्रवृत्ति-द्वारा आवश्यक सेवा करके जगत्‌से उऋण होता रहे। बदलेमें किसीसे कुछ चाहे नहीं। किसी प्रकारके सुख-

भोगकी इच्छा न करे। अर्थात् नया ऋण न ले। इस भाव और प्रकारसे किया हुआ कर्म बन्धनकारक नहीं होता।
(गीता १८। १०)

जो मनुष्य कर्मफलका आश्रय लेकर कर्म करता है, वह तो ऐसा कर्म भी कर बैठता है, जो उसे नहीं करना चाहिये तथा जिसमें उसका अपना और दूसरोंका भी अहित भरा रहता है। जैसे स्वादके सुखभोगका आश्रय लेकर भोजन करनेवाला ऐसी वस्तु भी खा लेता है, जिससे शरीरका अहित होता है तथा जो दूसरोंको दुःख देकर प्राप्त की गयी है, इस कारण उसमें दूसरोंका भी अहित निहित है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्मके विषयमें समझ लेना चाहिये। परंतु कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करनेवाला साधक ऐसा कोई काम नहीं करता जो उसे नहीं करना चाहिये अर्थात् जो उसका कर्तव्य नहीं है तथा जिससे किसीका भी किंचिन्मात्र भी अहित होता हो। उसकी प्रत्येक क्रिया सर्वहितकारी, स्वार्थरहित, भावपूर्ण, अभिमान और ममतासे शून्य होती है। शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा किये जानेवाले किसी भी कर्मसे किसी प्रकारका लगाव न रहनेके कारण वे कर्म उसे बन्धनमें डालनेवाले नहीं होते; प्रत्युत प्राक्तन कर्म-संस्कारोंका नाश करके क्रियाशक्तिके वेगको और कर्म करनेकी आसक्तिको मिटा देते हैं। साधारण मनुष्य जिस कर्मशक्तिके और प्रवृत्तिके वेगके कारण कुछ किये बिना रह नहीं सकता, वह वेग उसके मनमें शान्त होता चला जाता है।

कर्मफलका आश्रय लेनेवाला चाहयुक्त व्यक्ति ही अपनेमें सद्गुण और सदाचारका आरोप करके उसके बदलेमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, अधिकार और पद-प्राप्तिकी आशा करता रहता है तथा अपने आंशिक सदाचारको बढ़ा-चढ़ाकर लोगोंमें प्रदर्शित करता रहता है। साथ ही वह दूसरोंमें भाँति-भाँतिके दोषोंकी कल्पना और जल्पना भी करता रहता है और इस प्रकार उनमें घृणा और द्वेष करके अपने चित्तको अशुद्ध बना लेता है, परंतु जो साधक सद्गुण और सदाचारको अपना कर्तव्य मानकर उनका पालन करता है, समस्त भोग-सामग्री और मान-प्रतिष्ठा आदिकी अपेक्षा उनका महत्त्व अधिक समझता है, मान-बड़ाई आदिके बदलेमें अपने जीवनको नहीं बेचता उसमें किसी प्रकारके गुण और सदाचार-का अभिमान नहीं होता। सद्गुण और सदाचार उसके स्वाभाविक जीवन बन जाते हैं। वह अपनेमें किसी प्रकारकी विशेषताका आरोप या दर्शन नहीं करता, इस कारण उसके स्वभावमें परदोषदर्शनके लिये कोई स्थान नहीं रहता। अतः उसका चित्त सर्वथा स्वस्थ, शुद्ध, निर्विकार और शान्त हो जाता है।

कर्मफलके रूपमें मिलनेवाले सुख-भोगको चाहनेवाला विषयासक्त व्यक्ति काम, लोभ, क्रोध और भयसे आक्रान्त रहता है। कर्मफलकी कामनासे उसकी विवेकशक्ति ढक जाती है, लुप्तप्राय हो जाती है; अतः वह इस रहस्य-को भी नहीं समझ सकता कि किस कर्मके करनेमें मेरा और दूसरोंका हित है, किसके करनेमें अहित है, दूसरोंके हितमें ही मेरा हित भरा है और दूसरोंके अहितमें साथ-साथ मेरा भी अहित हो रहा है। वह तो बिना सोचे-समझे ही ऐसे कर्ममें उत्साहपूर्वक लग जाता है, जो सर्वथा अकर्तव्य है, जिसके करनेमें उसका अपना और दूसरोंका भी अहित है, जो सर्वथा निन्द्य है। परंतु कर्मफलका आश्रय न लेनेवाले साधकसे ऐसी भूल कभी नहीं होती। उसका विवेक सदैव जाग्रत् रहता है; उसपर काम, क्रोध, लोभ, मोह और भयका आवरण स्वप्नमें नहीं आता; उसका चित्त काम, क्रोध और भय आदि विकारोंसे सर्वथा रहित हो जाता है; अतएव उसका प्रत्येक कार्य सर्वहितकारी और आदर्श होता है।

जिस समय उसे कोई भी कर्म कर्तव्यरूपमें प्राप्त नहीं होता, उस निवृत्तिकालमें उसका विशुद्ध चित्त स्वतः शान्त हो जाता है। उसमें व्यर्थ और बुरे संकल्पोंका सर्वथा अभाव हो जाता है। उसके चित्तमें या तो प्रियतमकी मधुर स्मृतिका प्रवाह चलता है या वह अपने प्रियतमके प्रेममें निमग्न रहता है या उसकी सर्वथा

निर्विकल्प स्थिति हो जाती है । भावके भेदसे इस प्रकारका भेद होना स्वाभाविक है । इसीलिये इस श्लोकमें उस साधककी महिमाका वर्णन करते हुए उत्तरार्धमें यह कहा गया है कि वह संन्यासी है और योगी भी है ।

जो किसीसे कुछ नहीं चाहता, उसको सभी चाहते हैं—यह प्राकृतिक नियम है, इस कारण वह किसीके लिये भयप्रद नहीं होता । वह किसीसे वैर या द्वेष नहीं करता, इस कारण कोई भी प्राणी उससे वैर या द्वेष नहीं करता । सबके साथ उसका स्वाभाविक समतायुक्त प्रेम हो जाता है । वह किसीसे भी अपने मनकी बात पूरी करानेकी आशा नहीं करता, इस कारण उसके मनमें क्रोधके लिये कोई स्थान ही नहीं रहता ।

उक्त श्लोकके अनुरूप जिस साधकका जीवन बन जाता है, वह स्वभावसे ही आलस्य और प्रमादसे रहित एवं कर्तव्यपरायण होता है । उसमें यह भाव नहीं रहता कि मैं तो कर्मफलके आश्रयका त्यागी और कर्तव्यपरायण हूँ तथा दूसरे ऐसे नहीं हैं ।

कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और सांख्ययोग आदि जितने भी परमात्माकी प्राप्तिके साधन गीतामें बताये गये हैं, उनमेंसे किसीमें भी साधककी तबतक प्रगति नहीं होती, जबतक वह कर्मफलरूप वस्तु और परिस्थिति आदिके आश्रयका त्याग नहीं कर देता । इसीलिये भगवान्‌ने अगले श्लोकमें यह बात कही है कि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी मनुष्य योगी नहीं हो सकता । सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग वही कर सकता है, जो सब प्रकारकी कामनासे सर्वथा रहित हो जाता है । कामनाके रहते हुए संकल्पोंका अभाव नहीं हो सकता । एक-एक कामनाकी पूर्तिके लिये अनेक संकल्पोंका ताँता बँध जाता है । अतः कामनायुक्त व्यक्ति संकल्पोंके जालमें फँसा रहता है । उसके जीवनका अधिकांश समय अप्राप्त परिस्थितियोंके मिलनेकी आशामें और उनके चिन्तनमें ही बीत जाता है । अतः हरेक साधकको चाहिये कि कभी किसी भी प्राप्त वस्तु आदिमें आसक्त न हो और अप्राप्तके मिलनेकी आशा या उसका चिन्तन न करे । जो कुछ प्राप्त है, उसका सदुपयोग करता रहे।

जो साधक उपर्युक्त प्रकारसे कर्मफलरूप समस्त वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति आदिके आश्रयका त्याग करके इन सबसे सर्वथा निराश्रय और निराश हो जाता है, उसे उस अनन्तका आश्रय अपने-आप मिल जाता है, जो सबका सब कुछ है । फिर उसके जीवनमें किसी प्रकारका अभाव नहीं रहता ।

जो मनुष्य कर्मफलके आश्रयका त्याग नहीं करता, किंतु पूजा और सम्मान पानेके लिये या शारीरिक परिश्रमसे बचनेके लिये अथवा अन्य किसी प्रकारकी अनुकूलताके प्रलोभनसे या प्रतिकूलताके भयसे करने योग्य कर्मोंको नहीं करता, कर्मोंके साधनरूप अग्निका त्याग कर देता है तथा यज्ञ, दान, तप, सेवा और जीविकाके लिये विहित कर्मोंको भी त्याग देता है एवं जो न तो शरीर-इन्द्रिय आदिसे असङ्ग हुआ है और न वासनारहित ही हुआ है, प्रत्युत त्यागके बदलेमें भी किसी-न-किसी प्रकारके सुख-भोगकी आशा और कामना करता रहता है, वह अग्निरहित और अक्रिय होनेपर भी न तो संन्यासी है और न योगी ही है; क्योंकि संन्यासका फल कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाना और योगकी सिद्धि सर्व-संकल्पोंसे रहित निर्विकल्प और निर्बीज समाधि अर्थात् कैवल्य-अवस्था—ये दोनों ही उसे नहीं मिलते।

गीता अध्याय ४ श्लोक १८ से २४ तक, अध्याय १८ श्लोक ७ से ११ तक तथा अन्य अध्यायोंमें भी जगह-जगह इस श्लोकमें कहे हुए कर्म-रहस्यका विस्तृत विवेचन भगवान्‌ने किया है । उन सबकी तुलनात्मक अध्ययन करनेपर विचारशील साधक इस विषयको भली-भाँति समझ सकता है ।

सबमें भगवान्

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'हम कहाँ जा रहे हैं ?' सभीके मनमें यही प्रश्न था। सभीके मुख सूख गये थे। वे दुर्दान्त, निसर्गतः क्रूर दस्यु, जिन्होंने कभी किसीकी करुण प्रार्थना एवं आर्त चीत्कारपर दया नहीं दिखायी, आज इस समय बार-बार पुकार रहे थे—'या खुदा ! या अल्ला !'

दस्युपोत था वह। उन्होंने रात्रिके अन्धकारमें सौराष्ट्रके एक छोटे ग्रामपर आक्रमण किया। बड़ी निराशा हुई उन्हें। पता नहीं कैसे उनके आक्रमणका अनुमान ग्रामवासियोंने कर लिया था। पूरा ग्राम जनशून्य था। भवनोंके द्वार खुले पड़े थे। न सामग्री हाथ लगी, न पशु और न मनुष्य ही। अपनी असफलताके कारण दस्यु चिढ़ उठे। बार-बार वे हाथ-पैर पटकते और दाँतोंसे होठ काटते थे—'ये काफिर···' व्यर्थ था उनका रोष।

'कोई बड़ा 'मगर' आ रहा है !' एक दस्यु, जो पोतपर निरीक्षणके लिये था, दौड़ा आया। 'मगर' यह उनका सांकेतिक शब्द था। इसका अर्थ था कि उनके पोतको नष्ट करनेमें समर्थ कोई युद्धपोत आ रहा है।

'मगर !' दस्युओंमें भय फैला। बड़ी-बड़ी काली दाढ़ी भयंकर नेत्र, वे यमदूत-से दस्यु—किंतु जो जितना क्रूर है, उतना ही भीरु होता है। समाचार इतना ही था—'दूर लहरोंमें एक बड़ी रोशनी इधर आती लगती है।' परंतु दस्यु भाग रहे थे।

'फूँक दो ये मकान !' एकने मशाल उठायी।

'बेवकूफी मत कर !' सरदारने डाँटा—'इनकी रोशनी समंदरमें दूरतक हमलोगोंको रौशन करती रहेगी और जानता नहीं क्या कि सोरठी मगर कितने खूँखार होते हैं।'

'रणछोड़रायकी जय !' दस्यु जब भागे जा रहे थे, ग्रामके बाहर एक झोंपड़ीमेंसे उन्हें यह ध्वनि सुनायी पड़ी। रात्रिके अन्धकारमें यह झोंपड़ी उन्हें दीखी नहीं थी।

'एक कैंकड़ा ही सही।' दो-चार एक साथ घुस पड़े झोंपड़ीमें। केवल एक अधेड़ साधु मिले उनको। साधुकी झोंपड़ीमें तूँबा-कौपीन छोड़कर और होना ही क्या था। दस्युओंने ठोकर मारकर जलका घड़ा लुढ़का दिया। पटककर तूँबा फोड़ दिया और साधुको घसीट ले चले।

अपने पोतमें दस्युओंने साधुको पटक दिया था। क्रोधके आवेगमें और सच कहा जाय तो युद्धपोतके आ धमकनेके भयके कारण वे सोच नहीं सके थे कि इस साधुको वे क्यों लिये जा रहे हैं और उसका क्या करेंगे। वे सब-के-सब डाँड़ सम्हालकर बैठ गये थे। उन्हें यथाशीघ्र युद्धपोतके आनेसे पूर्व दूर निकल जाना था।

जल-दस्यु समुद्रमें मार्ग नहीं भूला करते। परंतु 'आसमानी आफत' का कोई रास्ता उनके पास नहीं था। वे तटसे दूर समुद्रमें पहुँचे और तूफानकी भयंकर हरहराहट उनके कानोंमें पड़ी।

'तूफान !' दस्यु इस आफतकी कल्पना भी नहीं कर सके थे। समुद्रमें तूफान आता तो है; किंतु ऐसे आ पड़ेगा ? क्षणोंमें दस्युपोत नियन्त्रणसे बाहर हो गया। पल-पलपर लगता था कि वह अब डूबा, तब डूबा। घोर अन्धकारमें कुछ सूझता नहीं था। लहरोंके थपेड़े—सबके वस्त्र भीग चुके थे। सबके दिल धड़क रहे थे। पोत पता नहीं किधर लहरोंपर उड़ा जा रहा था।

'हम कहाँ हैं ?' मुखपर आकर भी यह प्रश्न बाहर नहीं आता था। इससे भी बड़ा प्रश्न—'हम बचेंगे आज ?' लेकिन इस अन्धकारमें कोई एक दूसरेका मुखतक देख नहीं पाता था।

× × ×

'श्रीरणछोड़रायकी जय !' अरुणोदयके झुटपुटेमें दस्युओंने देखा कि वे जिसे पकड़ लाये हैं, वह भारतीय साधु हिलते-कूदते पोतमें एक तख्तेपर तलीमें शान्त बैठा था। वह इतना स्थिर, इतना शान्त था कि पोतमें वह है, यह बात ही दस्यु भूल चुके थे। अब वह हिला है और उठकर लहरोंसे एक चुल्लू पानी लेनेकी फिराकमें है।

'काफिर !' एक दस्युने अपना भाला उठाया।

'ठहरो !' सरदारने रोका उसे। हम उसे फिर जिबह कर सकते हैं। क्या करता है यह, देखने दो !'

'श्रीरणछोड़रायकी जय !' साधुको इसकी कोई चिन्ता

नहीं जान पड़ती थी कि वह यमदूतोंके मध्यमें है। पोत अब भी बुरी तरह उछल रहा है, इसकी भी उसे चिन्ता नहीं थी। उसके मुखपर न भयके चिह्न थे और न खेदके। उसने एक हाथसे पोतका एक किनारा पकड़ लिया था, दूसरे हाथसे उत्ताल तरङ्गोंसे एक-एक चुल्लू जल लेकर मुख धो रहा था।

'यह इतना थोड़ा पानी क्यों पीता है?' साधुको समुद्रके जलसे आचमन करते देख दस्युओंको कुतूहल हुआ।

'समंदरका पानी वह ढेर-सा पी कैसे सकता है।' दूसरेने समाधान कर लिया अपनी समझके अनुसार।

साधुने संध्या की और सागरकी लहरोंसे उठते भगवान् भास्करको अर्घ्य अर्पित किया। पोतमें खड़े होना सम्भव नहीं था। बैठकर वे प्रार्थना करने लगे—'विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव ……।'

'यह तो इबादत कर रहा है—खुदाकी इबादत!' सरदारने साथियोंकी ओर देखा।

'काफिर!' दूसरा दस्यु चिढ़ उठा—'आफ़ताब है इसका खुदा!' और भाला उठाया उसने।

'तुम मेरे सामने हथियार उठानेकी जुर्रत करते हो?' सरदार चिढ़ उठा। उसके नेत्र जलने लगे। अपनी भारी तलवार उसने खींची—'रातको कहाँ था आफताब? वह पूरी रात परस्तिश करता रहा है और कौन जानता है कि खुदाने उसीकी दुआ कुबूल करके हमें बचाया नहीं है।'

'एक काफिरके हकमें शमशेर उठाना अच्छा नहीं है!' दूसरे दस्यु भी झगड़ेको उद्यत हो गये। 'हम इसे गवारा नहीं कर सकते। भले हमारे सरदारकी ही यह हरकत हो।'

'मैं नहीं चाहता कि वह क़तल किया जाय।' सरदारने स्वरको नरम करके कहा—'कुल घंटे भरमें हम मौतके जजीरेके पास पहुँच रहे हैं। वहाँ इसे उतार देंगे।'

'एक ही बात, काफिरको मरना है। हम रहमदिलीसे मारते, जजीरेके जंगली पत्थरोंसे मारेंगे।' सरदारके साथी दस्यु खुश हो गये। 'कोई बात नहीं, इसके क़बाबपर एक दिन उन्हें दावत उड़ा लेने दिया जाय।'

× × ×

महाद्वीप अफ्रिकाके समीपका वह घने वनोंसे आच्छादित द्वीप। जलदस्युओंने ही नहीं, सभी परिचित माझियोंने उसका नाम 'मृत्युद्वीप' रख छोड़ा था। जलपोत उसके तटसे दूर ही रहनेका प्रयत्न करते थे। उसपर रहनेवाले वन्यमानव इतने भायनक थे कि उनका दर्शन न होना ही ठीक। चुटकी बजाते वे बिलमेंसे चींटियोंके समान वनमेंसे ढेर-के-ढेर निकल पड़ते हैं। अपनी वृक्ष नौकायें वे पाँच-सात हाथोंपर उठाये दौड़े आते हैं और समुद्रमें एक बार उनकी नौका छूट गयी—तटके मील भरका क्षेत्र तो उनके लिये भूमिपर दौड़ते-जैसा क्षेत्र है। उनके अचूक निशाने—उनके हाथके फेंके भाले लक्ष्य चूकना जानते ही नहीं। आरब्य सुपुष्टकाय, दैत्याकार दस्यु भी इन कौपीनधारी, कज्जलवर्ण, मोटे होठ और रूखे घुँघराले केशोंवाले वन्यमानवोंसे दूर ही रहनेमें कुशल मानते हैं।

दस्युपोत महाद्वीपके पास नहीं गया। उपद्वीपसे भी दूर ही घूमता रहा। वह जैसे कुछ प्रतीक्षा कर रहा था। सहसा उस उपद्वीपकी हरियालीमें हलचल हुई। कुछ आकृतियाँ रेंगती दिखायी पड़ीं और फिर तो चिचियारीका कोलाहल समुद्रकी लहरोंपर गूँजने लगा।

'जल्दी फेंक दो इसे। वे आ रहे हैं। पास आ गये तो समझो क़यामत आ गयी।' दस्यु-सरदारने लहरोंके ऊपर दूर तैरती काली-काली नौकाएँ देख ली थीं। जैसे बड़े-बड़े मगर मुख फाड़े बढ़े आ रहे हों।

'मेहरबान! अब इन लोगोंका मेहमान बनना है जनाबको।' दो दस्युओंने पकड़कर उठाया साधुको और अट्टहास करके फेंक दिया समुद्रमें।

'या खुदा!' सरदारने सिरपर हाथ दे मारा। कई नौकाएँ एक बड़ी लहरके पीछेसे ऊपर उठ आयीं एक साथ। अब उनपर खड़े चीत्कार करते वन्यमानव स्पष्ट देखे जा रहे थे। चिल्लाया सरदार—'फुर्ती! डाँड़ उठाओ! मौत दौड़ी आ रही है! मौत!'

एक, दो, चार—पचीसों नौकाएँ बढ़ी आ रहीं थीं। पोत इन नौकाओंके समान शीघ्रगामी कैसे हो सकता है और समुद्र अभी शान्त हुआ नहीं है। दस्यु प्राणपर खेलकर डाँड़ चला रहे थे।

'ओह!' सबसे आगेकी नौकापर खड़े एक काले पुरुषने हाथ उठाया। एक भाला 'खप्' करता आकर एक दस्युके कंधेमें घुस गया। लुढ़क गया दस्यु।

'खप, खट्, खट्' बराबर भालें दस्युओंपर या पोतपर पड़ने लगे थे। नौकाओंने उन्हें घेर लिया था।

दस्युं-सरदारने देखा कि अब भागनेकी चेष्टा करना व्यर्थ है। वह पोतसे कूद पड़ा सागरके जलमें। इतने वन्य-मानवोंसे युद्धकी तो बात सोचना ही व्यर्थ है।

× × ×

'आप यहाँ कैसे पहुँचे ?' सरदारने आखें खोलीं तो देखा कि साधु उसके ऊपर झुके कुछ पूछ रहे थे। परंतु अभी वह कुछ बोल सके, ऐसी दशामें नहीं था। मस्तकमें भयंकर पीड़ा हो रही थी। तनिक सिर घुमाकर वह उलटी करने लगा। पेटमेंसे समुद्रका पानी निकल जानेपर उसे कुछ शान्ति मिली।

'बहुत थोड़ी चोट लगी है। सिर चट्टानसे टकरा गया लगता है; परंतु रक्त अब बंद हो गया है।' साधु पास बैठे दस्युपतिका सिर सहला रहे थे।

'हुजूरकी मेहरबानी !' दस्यु अत्यन्त दीनस्वरमें बोला। उसके नेत्रोंसे आँसू बह चले—'मुझे हुजूर माफ़ कर दें। खुदाके बंदे हैं हुजूर !'

'आप घबराइये मत ! मुझे भी लहरोंने आपके ही समान यहाँ किनारे फेंक दिया। अन्तर इतना है कि मुझे चोट नहीं लगी और मैंने समुद्रका पानी नहीं पिया ! भगवान् सबका मङ्गल करते हैं।' साधु स्नेहपूर्वक हाथ फेरते रहे—'धूप तीव्र है, आप खिसक सकें तो हमलोग कुछ दूर चलकर छायामें बैठें !'

'हम मौतके जजीरेपर हैं ?' दस्यु-सरदार उठ बैठा। उसका पुष्ट शरीर—उसकी जीवनी शक्ति इस विपत्तिमें इतनी क्षीण नहीं हुई थी कि वह उठ न सके; किंतु इधर-उधर देखकर वह हतप्रभ हो उठा। 'वह दूरसे आवाज आ रही है। वे लोग मेरे साथियोंको बाँधकर उनके चारों ओर नाचते-कूदते, चिल्लाते होंगे। वे उन्हें पत्थरोंसे मारकर समाप्त कर डालेंगे और टुकड़े करके उनका कबाब खा जायँगे।'

'मृत्यु दो बार नहीं आती और जब आनेको होती है, उससे पहले भी नहीं आती।' साधुका तत्त्वज्ञान दस्युकी समझमें आये, इसकी आशा नहीं थी; साधुने भी इसे झट अनुभव कर लिया। वे प्रसङ्ग बदलकर बोले—'मेरे गुरुदेवने बताया है कि 'जो सम्मुख आये, उसे भगवद्रूप मानो और उसके अनुरूप उसकी सेवा करो। संसारकी चिन्तामें पड़ना तुम्हारा काम नहीं है।' आप क्या छायातक चल सकेंगे ?'

'आपका हुक्म मानूँगा।' दस्युको सहायताकी आवश्यकता नहीं पड़ी। वह भी देख रहा था कि अब समुद्रमें भागनेका कोई मार्ग नहीं और धूपमें देरतक बैठा नहीं जा सकता। दोनोंमें ही दूरतक जानेकी शक्ति नहीं थी। तटके सबसे समीपके वृक्षतक वे जा सके और बैठ गये। लहरोंके थपेड़ोंने उनके अङ्ग-अङ्ग चूर कर दिये थे।

'आइये, भगवन् !' विपत्ति अकेली नहीं आती। छायामें बैठे आधा घंटे भी नहीं हुआ था कि सामनेकी झाड़ीमें दो नेत्र चमक उठे। साधुसे पहले दस्युकी दृष्टि उधर गयी। वह भयसे पीला पड़ गया। उसने बिना बोले उधर संकेत किया। परंतु साधु तो अद्भुत पुरुष है। उसने तो ऐसे बुलाया जैसे किसी सामान्य अतिथिको बुला रहा हो—'आप संकोचपूर्वक छिप क्यों रहे हैं ? पधारिये !'

सचमुच झाड़ीमेंसे सिंह निकला और अपनी स्थिर मन्द-गतिसे आगे बढ़ आया।

'आप विराजें ! कोई आसन मेरे पास नहीं है।' साधुने खड़े होकर दोनों हाथ जोड़े 'हम कंगाल कोई भी अभ्यर्थना करनेयोग्य नहीं, देव !'

सिंह बैठ गया और जब उसके पास साधु बैठ गये, तब अपना मुख उसने उनके पैरोंपर रख दिया। एक पालतू कुत्तेके समान अपनी पूँछ वह हिला रहा था और उसके नेत्र अधमुँदे हो चुके थे।

'हुजूर करिश्मा कर सकते हैं !' दस्युको आश्चर्य हो रहा था कि एक आदमी इस तरह जंगलमें खूँखार शेरका सिर थपथपा सकता है।

'भगवान्ने कहा है कि वे पशुओंमें सिंह हैं।' साधुका स्वर श्रद्धापूर्ण था।

'हुजूर आफ़ताबकी इबादत करते थे और अब शेरको खुदा कह रहे हैं !' दस्युकी समझमें कुछ नहीं आया था; परंतु उसका भय दूर हो गया था।

'तो आप समझते हैं कि खुदा हर जगह और हर वस्तुमें नहीं है ?' साधुने देखा दस्युकी ओर।

'वे आ गये—उनमें भी खुदा ·····।' दस्युका स्वर भयसे बंद हो गया। झाड़ियोंके पीछे कुछ काली आकृतियाँ उसने देख ली थीं, जो इधर-उधर हिल रही थीं।

पता नहीं क्या हुआ—एक चिचियारी गूँजी और शान्ति फैल गयी। कुछ क्षण ऐसा लगा कि वन्य-मानवोंका समूह घने वनमें; लताओंके पीछे चुपचाप एकत्र हो रहा है और

तब तीन-चार सुपुष्ट व्यक्ति धीरे-धीरे एक ओरसे बाहर आये।

'आइये, भगवन् !' साधुने उनकी ओर देखा और सिंहने भी सिर उठाकर देखा; किंतु वे भागें, इससे पूर्व ही सिंहने मुख साधुके पैरोंपर फिर रख लिया।

कुछ पुकारकर कहा उन लोगोंने—एक साथ पूरी भीड़ उनके पीछेसे निकल आयी। वन्य-मानव भूमिपर लेटकर साधुको प्रणाम करते थे।

'ये कहते हैं कि आप वनके देवता हैं या उनके दूत ?' दस्युने अधर हिलाकर, बिना शब्द किये एक वृद्धसे संकेतकी भाषामें बातें प्रारम्भ कर दीं।

'देवताओंका आराधक !' साधुका उत्तर सुनकर वे वन्य-मानव नृत्य करने लगे। सिंहकी उपस्थिति वे भूल ही गये। उन्होंने साधुसे प्रार्थना की कि वे उनके ग्रामको पधारकर पवित्र करें। वहीं निश्चय हो गया कि दस्युपोत वे साधुको दे देंगे भारत जानेके लिये और दस्युको तो वे साधुका सेवक ही समझ रहे थे। सचमुच अब दस्यु साधु-सेवक हो चुका था!

सत्यकी खोज

(लेखक—श्रीअमरसिंहजी महता)

स्कन्दपुराणके अनुसार 'विश्व सत्यमें लिपटा हुआ है, धर्म सत्यमें समाया हुआ है; यह केवल सत्य ही है जिसके कारण सागर अपनी सीमाओंमें बँधा हुआ है। प्रत्येक धर्म, प्रत्येक संत, प्रत्येक उपदेश और प्रत्येक महापुरुष प्रत्येक कालमें प्रत्येक स्थानपर सत्यपर ही बल देते आये हैं। सत्यकी ही विस्तृत सीमामें सब नैतिक बन्धनोंको बाँधा गया है। ढाई अक्षरके 'सत्य' शब्दमें वह असीम शक्ति विद्यमान है; जिसे प्राप्तकर मानवता दानवताको त्याग कल्याणमय मार्गपर अग्रसर हुई है।'

शास्त्रोंका तो मूल सिद्धान्त ही यह है कि 'सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है' 'न हि सत्यात् परो धर्मः'।* अथर्ववेदमें लिखा है कि 'महान् सत्य, कठोर नैतिक संज्ञा, व्रत-पालन, आत्म-ज्ञान, त्याग—इनके कारण ही पृथ्वी स्थित है।' (सत्यं बृहद्दतमुग्रं दीक्षा, तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ···) इसमें भी सत्यको प्रथम स्थान दिया गया है तथा इसका महत्त्व स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे 'महान्' (बृहत्) विशेषणका प्रयोग किया गया है। आर्य-संस्कृतिके मूल समस्त धार्मिक एवं पौराणिक ग्रन्थोंमें सत्यकी महत्तम महिमा गायी गयी है तथा उस अकाट्य तथ्यको भूल जानेके भयसे बार-बार दुहराया गया है।

वाल्मीकि-रामायण तो सत्यकी महत्ता सिद्ध करनेमें सभी वेद-पुराणोंसे आगे बढ़ गया है। इसमें लिखा है कि 'ईश्वर केवल सत्य है और समस्त गुण सत्यका ही अनुगमन करते हैं। प्रत्येक सुन्दर वस्तु सत्यसे ही आती है और सत्यसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है।' भर्तृहरिने 'सबसे अधिक शान्ति कहाँ है ?' प्रश्नके उत्तरमें 'सत्य'की ओर संकेत किया है। सत्यके लिये किया गया संकेतात्मक—किंतु साहसिक उत्तर वस्तुतः सत्य है। सत्यके अभावमें शान्तिका अस्तित्व ही नहीं रहता। मध्यकालमें तुलसीने भी सत्यकी महिमामें कहा है—

साँच बराबर तप नहीं झूँठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप॥

जिस सत्यकी इतनी महिमा गायी गयी है, जिस सत्यका उद्गम सृष्टिके आरम्भसे है और अन्त सृष्टिके साथ है, वह सत्य आखिर है क्या ? क्यों इसे प्रधानता दी जाती रही है ? क्या सचमुच इसके अभावमें सृष्टिका अन्त हो जायगा ? क्या सत्यका प्रयोग हर समयके लिये सही एवं उपयोगी है, आदि-आदि अनेक प्रश्न हैं। ये कोरे काल्पनिक भावुक प्रश्न ही नहीं—किंतु मानव-मनमें सहज उठनेवाली स्वाभाविक जिज्ञासाएँ हैं, जिनकी पूर्ति करना आवश्यक है। इस छोटे-से लेखमें हम इसी 'सत्यकी खोज' करनेका तुच्छ प्रयास करेंगे।

सत्य शब्दका उद्भव संस्कृतके सत् शब्दसे है, जिसके अर्थ हैं—'होना', 'स्थित होना', 'जीवित रहना' आदि। सत्यके अतिरिक्त वास्तवमें न कोई वस्तु है और न कोई उसकी स्थिति ही है। सत्य अन्तर्ध्यान, निर्विकार एवं निर्गुण है। सत्य परम ब्रह्म है। इसीलिये महात्मा गाँधीने कहा था, 'सत्य ईश्वर है।' यद्यपि उन्होंने कोई नयी बात नहीं कही, किंतु अवश्य ही इस छिपे सत्यको प्रकट करनेका गुरुतर श्रेय उनको प्राप्त है। 'राम-नाम सत्य है' इसी तथ्यका लौकिक प्रतिरूप है।

* There is no religion higher than truth.

जहाँ सत्य है वहाँ ज्ञान (चित्) है, जहाँ प्रकाश है वहाँ आनन्द है। इसीसे हम ईश्वरको 'सत्-चित्-आनन्द'से परिपूर्ण स्थितिमें मान उसे 'सच्चिदानन्द' की संज्ञासे विभूषित करते हैं। यह वह महान् शक्ति है जिसमें सत्य, ज्ञान और आनन्द तीनोंका संयुक्त धन समानरूपसे विद्यमान है।

सत्य ही ईश्वर है। ईश्वरकी सत्ताको भले ही कोई मना करे, परंतु सत्यको मना करनेकी क्षमता किसीमें नहीं है। अज्ञानीसे अज्ञानी और असभ्यसे असभ्य व्यक्तिमें भी सत्यका कुछ अंश अवश्य रहता है। यदि वह अंश ही लुप्त हो जाय तो व्यक्तिका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।

सभ्यता और संस्कृतिका विकास मानववादकी सत्यमार्गका अवलम्बन करते हुए की गयी प्रगति है। सत्यकी शक्ति असीम है। इस शक्तिका प्रयोग सदा संहारात्मक प्रवृत्तियोंसे हटकर सृजनात्मक कृतियोंकी ओर हुआ है। सत्य स्वयं ज्ञान है और ज्ञान ही सभी प्रगतियोंका मूल स्रोत है। सत्य जीवन है—पूर्ण जीवन, प्रफुल्लित जीवन, उमंगों भरा, आशाभरा, छलकता-सा, महकता-सा। सत्यवादी व्यक्तिमें साहस, शक्ति, धैर्य, विवेक और चरित्रका समानुपात होता है। यही समानुपात उसके आनन्दमय जीवनका कारण है।

सत्यमें स्वाभाविकता है, कृत्रिमता नहीं, मिथ्या आडम्बर नहीं। सत्यकी राह दुर्गम होते हुए भी झूठी दुर्गन्धसे भरे विषैले कीटोंसे सनी हुई नहीं है। निर्भीक जीवनमें सत्यही-की अदृश्य शक्ति छिपी रहती है, जो निरन्तर कर्तव्यपथपर आगे बढ़नेकी प्रेरणा देती रहती है। सत्य सदा स्वच्छ और निर्मल होता है। उसमें तनिक-सी भी दुर्गन्ध लगनेपर रंग फीका प्रतीत होने लगता है। सत्य जितना सुकोमल है उतना ही कठोर भी। इसीलिये कहते हैं—'साँचको आँच नहीं।' जिस प्रकार सोनेको ज्यों-ज्यों गरम करते जाते हैं त्यों-त्यों उसकी चमक बढ़ती जाती है, उसी प्रकार सत्यवादी व्यक्ति जितना सताया जाता है, उतना ही उसका आत्म-विकास बढ़ता जाता है, घटता नहीं। अधिक सताये जानेपर वह उसी सत्यरूपी परमब्रह्ममें लीन हो जाता है, जिसकी खोजके लिये उसे सताया गया था। प्रभु ईसामसीह इसी सत्यके शोधक थे, जिन्हें क्रॉसपर सुलाया गया था।

सत्यका न शोषण किया जा सकता है और न उसकी अवहेलना ही की जा सकती है। सत्यको छिपाया भी नहीं जा सकता। वह तो स्वयं ही काल और स्थानकी सीमाको लाँघकर उपयुक्त अवसरपर प्रकट हो जाता है।

सत्य सनातन है। यह न कभी पुरातन हुआ और न कभी भविष्यमें परिमार्जनकी आवश्यकता ही रखता है। अर्वाचीन तो वह है ही। सत्य स्वयं एक कला है और बहुत बड़ी कला होनेपर भी कठिन नहीं है। यह एक सर्वसाधारण-की कला होनेसे सुस्पष्ट, सरल और स्वाभाविक है। वस्तुतः सत्य जीवनकी अनुपम निधि और उत्कृष्टतम कला है। सत्यका कलाकार संसारका सर्वश्रेष्ठ कलाकार है।

सत्य एक विज्ञान भी है अपनेमें पूर्ण। सत्य और विज्ञान दोनों एक-दूसरेमें अन्तर्निहित हैं, जिन्हें पृथक् करना असम्भव है। सच्चे हृदय, सच्ची लगन और सच्चे ध्येयके लिये अनवरत कार्य करनेवाला ही सच्चा वैज्ञानिक है। कहा भी उचित ही गया है कि 'वैज्ञानिक सत्यके मन्दिरका पुजारी है।' वह प्रकृतिमें छिपे सत्यका ही तो रहस्योद्घाटन करता है और इसी रहस्यमयी खोजके सृजनात्मक परिणामोंको वह मानव-कल्याणमें लगा देता है।

सत्य स्वयं राजनीति है, दर्शन है, तर्क है। प्रत्येक प्रगतिशील राष्ट्र सत्यको ही लक्ष्य रखकर अपनी नीतियाँ निर्धारित करता है। सत्यकी नीति सदा स्पष्ट और उलझन-हीन होती है। उसके पालन करनेमें न उलझनोंका ही सामना करना पड़ता है और न उसे पेचीदा ही बनाना पड़ता है। राष्ट्रका उत्थान-पतन सत्यके मार्ग अपनाने और उससे हटनेपर निर्भर करता है। इतिहास साक्षी है जिसने भी इस अकाट्य तथ्यकी उपेक्षा की, वहीं उसका पतन भी हुआ। विश्वके बड़े-बड़े साम्राज्य इसी प्रकार बने और बिगड़े, उठे और मिटे।

संसारके सभी प्रसिद्ध महापुरुष सत्यकी ही खोजमें अपना जीवन व्यतीत करते हुए, उपदेश देते हुए महामानव बन गये।

आधुनिक कालमें महात्मा गाँधीका पावन मार्ग भी सत्यकी खोज ही है। अन्तारराष्ट्रिय क्षेत्रमें सर्वाधिक ख्याति-प्राप्त भारत गौरव 'पंचशील' सिद्धान्त सत्यपर ही आधारित है। इस सिद्धान्तकी सफलता सत्यकी ही सफलता है।

हमारा धर्म, राज्य और सामाजिक व्यवहार तीनों एक साथ चलें

(लेखक—आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ)

प्राणिमात्रका कल्याण इसीमें है कि धर्म, राज्य और सामाजिक व्यवहार—ये तीनों मेल-जोलसे रहें, मेल-जोलसे चलें। धर्मानुकूल राज्य रहे, धर्मानुकूल सामाजिक व्यवहार चलें, तब कल्याण हो। इसीलिये राजा-प्रजा दोनों एक धर्मके ही हों तो बड़ा सुख मिल सकता है, मनुष्य एक समाजका प्राणी है, वह अकेला कभी नहीं रह सकता। वह है, उसके कुटुम्बी हैं, उसके पड़ोसी हैं, उसका ग्राम है, नगर है, जिला है, देश है, प्रदेश है। उसके व्यक्तिगत विशेष कर्तव्य हैं और अन्योंके साथ सम्बन्ध रहनेसे अन्योंके प्रति भी उसके विशेष कर्तव्य रह अथवा बन जाते हैं।

किसको क्या खाना चाहिये, कितना खाना चाहिये, कैसे खाना चाहिये, घरमें कैसे वर्तना चाहिये, कैसे कपड़े पहनने चाहिये, कौन-सा धंधा करना चाहिये, कितना दान-धर्म करना चाहिये, कौन-से खेल खेलने चाहिये, कैसा व्यायाम करना चाहिये—इत्यादि बातोंमें एक व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र है और होना भी चाहिये।

किंतु

इसके विपरीत जब उसका सम्बन्ध और व्यवहार अन्योंसे पड़े, तब उसका विशेष कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने वचनपर स्थित रहे। जहाँतक सम्भव हो दूसरोंको किसी प्रकारकी पीड़ा न पहुँचाये। सच बोलना चाहिये, परोपकार करते रहना चाहिये। राज्यके नियम पालने चाहिये। इस प्रकार एक प्रकारके कर्तव्य तो केवल अपनेसे सम्बन्ध रखते हैं और दूसरे प्रकारके कर्तव्य अन्योंसे सम्बन्ध रखते हैं।

जब

हमारे पुण्य, पवित्र भारतमें, हमारा ही धर्म चतुष्पाद् होकर पूर्णरूपसे विचरता रहा, तब राज्य और समाज ठीक-ठीक चलता रहा और राजा और प्रजा दोनों सुखपूर्वक चलते रहे। सच पूछिये तो राज्यकी अपेक्षा—

'धर्मः शास्ति प्रजाः सर्वाः' (मनु)

—धर्म ही विशेषरूपसे प्रजा-पालन करता रहता था। राजा साक्षीमात्र थे, और वह यही देखता रहता था कि कहीं मर्यादा तो नहीं टूट रही है।

कुछ सहस्र वर्षोंसे

यह स्थिति बदल गयी। विदेशियोंसे सम्पर्क रहने लगा। विदेशी और विधर्मियोंके आक्रमणोंने भारतवर्षकी काया-पलट कर दी और विदेशी—विधर्मी राज्य सिरपर आ गया—इस प्रकार धर्म तो अपना रहा, किंतु राज्य विदेशी हो गया और संसर्ग-दोषके कारण हमारा समाज विस्खलित हो गया। इतना विस्खलित हो गया कि आज उसके व्यवहारको देखा जाय तो उसमें भारतीय धर्म, भारतीय राज्य, भारतीय व्यवहार कितना शेष रह गया है, कितने रूपमें शेष रह गया है, यह पहचानना ही कठिन है।

धर्म

उपनिषद्के कथनानुसार धर्मके तीन अङ्ग हैं। अथवा यों कहिये कि धर्मरूपी महावृक्षके तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, अध्ययन, दान।

यज्ञ

यज्ञोंकी प्रथा प्रायः लुप्त है। कहीं-कहीं याज्ञिक पण्डितोंके घरोंमें परम्परासे कोई-कोई यज्ञ चला आता है, पर ऊपर मर्यादापालक आर्यराज्यके न रहनेसे वे यज्ञ लुप्त-प्राय हैं। जो कुछ बच रहा है वह एक ढर्रेके रूपमें है। हमारे देशकी ख्याति थी—भारत यज्ञीय देश है। पर आज कहाँ है। एक स्कन्धकी तो यह दशा हुई।

अध्ययन

हमारे भारतकी एक अपनी अध्ययन-परम्परा थी। विदेशी-विधर्मी राज्य-सम्पर्कमें आकर अध्ययन ही बदल गया और—

'वेद एव परो धर्मः' (मनु०)

'वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्'

—वेद ही परम धर्म है, वेदमें ही सब कुछ है, यह भावना जाती रही। यवनोंके समय किसी प्रकार बची हुई वेदशास्त्र-परम्परा अंग्रेजोंके समयमें शिथिल पड़ गयी और आज भारतकी ब्राह्मण-जाति, जो वेदशास्त्र सँभाले बैठी थी, वेदोंको छोड़ बैठी है।

दान

हाँ, दान-प्रणाली चल रही है, सम्भवतः—

'दानमेकं कलौ युगे'

(मनु०)

—कलियुगमें दान-प्रणालीसे ही हम कुछ-कुछ बच सके हैं। अवश्य ही उसका भी रूप विकृत हो गया है।

युग-ह्रास

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमित्याहुर्दानमेकं कलौ युगे॥

सत्ययुग तपःप्रधान रहता है अथवा जिस युगमें तप प्रधान रहता है वह सत्ययुग है। जिस युगमें ज्ञान प्रधान रहे वह त्रेतायुग। जिस युगमें यज्ञोंका प्राधान्य रहे वह द्वापर और कलियुगमें दानकी प्रधानता रहती है।

अब जब कि

धर्मके तीन स्कन्धोंकी यह दशा बन गयी है और राज्यप्रणाली धर्मनिरपेक्ष हो गयी है, तब प्रजाके सामाजिक व्यवहार रूढिरूपमें धार्मिक, व्यवहाररूपमें वैदेशिक होते जा रहे हैं। इस तरह धर्म, राज्य और समाजव्यवहार परस्पर भिन्न ही नहीं, अपि तु परस्परविरोधी बन गये हैं।

तब सुख-शान्ति कहाँ ?

नयी धर्मनिरपेक्ष राज्यप्रणाली नया अस्वाभाविक समाज बनाना चाहती है और ऐसे नये समाजवादकी घोषणा भी हो चुकी है जिसका स्वयं घोषणा करनेवालोंको पता नहीं कि वह क्या है। इस समाजवादमें—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

(गीता)

चातुर्वर्ण्यका, गुण, कर्म, स्वभावका लेशमात्र भी सार नहीं है। कहते हैं कि सौ वर्ष पीछेके मार्क्सवादपर चलनेमें कल्याण नहीं है। इस वर्तमान समयमें मार्क्सवाद नहीं चल सकता। कहते हैं कि समाजवाद लानेमें हम रूसका अनुसरण नहीं करेंगे। हम अमरीकाके पिछलग्गू नहीं बनेंगे। हम पाश्चात्त्योंका अनुसरण नहीं करेंगे।

फिर

समझमें नहीं आ रहा है कि सबको समस्थान बना डालनेवाला (यह निश्चय है कि वर्तमान राज्यप्रणाली इस प्रकारकी समाज-व्यवस्थाकी स्थापनामें सर्वथा अनुत्तीर्ण होगी, बुरी तरह फेल हो जायगी।) समाजवाद किस रूपका अथवा उसका क्या स्वरूप होगा। यह भी कहते हैं कि हम अपने देशकी अवस्था और व्यवस्था देखकर ही समाजवादकी स्थापना करेंगे।

भारतकी अपनी समाज-व्यवस्था है

भारतवर्षकी अपनी ही, अपने ढंगकी, अनोखी समाज-व्यवस्था है, पर वह समाजव्यवस्था उसी प्रकारके आर्यराज्यकी व्यवस्था हो तो तब चल सकती है। तब पाश्चात्त्य धर्म-निरपेक्ष प्रजातन्त्र-प्रणालीके सिरपर रहते वह प्राचीन आर्य-समाजवाद तो नहीं पनप सकता।

हमारी अपनी भारतीय राज्यव्यवस्था भी है

हमारे वेद-शास्त्र, इतिहास, पुराण आदि इस बातके साक्षी हैं कि हमारी अपनी एक विशिष्ट राज्य-पद्धति है और थी, पर उसके विषयमें यह सोचनेमें कि वह पुनः आयगी, प्रस्थापित होगी और हमारा धर्म, हमारा राज्य, हमारा समाजव्यवहार समीप भविष्यमें प्रचलित होकर मेल-जोलसे चलेगा और संसारमें सुख-शान्तिका साम्राज्य होगा, ऐसा माननेमें मन संकोच कर रहा है। वैसे तो हम यही विश्वास रखते हैं कि यदि कोई धर्म संसारको सुख-शान्तिका मार्ग बतलाने और उसपर चलानेमें समर्थ है तो वह हमारा आर्य अथवा हिंदू-धर्म ही है, जिसमें इतने अधिक उदात्ततत्त्व, नीतितत्त्व भरे हैं कि जो अन्यत्र धर्माभास धर्मोंमें नहीं मिल सकते।

हमें तो आश्चर्य इसी बातका है

हमें तो आश्चर्य इसी बातका है कि इस सुदीर्घकालीन दासता तथा विदेशी एवं विधर्मियोंके संसर्गमें हम बचे ही कैसे ?

चाहे

बाह्यरूपमें हमारा धर्म रूढिरूपमें रहा, किंतु हमारा धर्म प्राचीन परम्परासे हमारी जातिके रक्तमें बराबर संचरित रहा, यही कारण है कि—

हम जीवित रह सके

अब भगवान् करुणानिधानके करुणारससे हमारी दासता जाती रही, हम स्वतन्त्र हो गये किंतु यह प्राप्त स्वराज्य हमारे स्वधर्मसे मेल नहीं खा रहा है और हमारे सामाजिक व्यवहार विस्खलित होते जा रहे हैं—यही एक निगूढ चिन्ताका प्रश्न है !

यह तो स्पष्ट ही है

कि वर्तमान पाश्चात्य प्रजातन्त्र हमारे धर्मकी पुष्टि कभी नहीं करेगा। हमारे धर्मकी रक्षा पूर्णरूपसे कभी न कर सकेगा। इस पचमेल राज्य-पद्धतिमें वह ऐसा न करनेमें स्वतन्त्र नहीं है।

यह विचित्र राज्यपद्धति

यह विचित्र राज्यपद्धति भारतके गले पड़ी है। ऐसी विचित्र पद्धति कि जिसका आभास हमारे पूर्वजोंको कभी नहीं मिला था।

यहाँ तो

पक्ष-विपक्ष-पद्धतिमें सत्यको भी हार खानी पड़ रही है। जिधर सत्य उधर ही हाथ यह बात नहीं है। पर जिधर हाथोंकी संख्या अधिक वही सत्य—इस प्रकारकी पक्षनिष्ठा चल पड़ी है।

हमारी राज्यसभाएँ

अथवा विधानसभाएँ—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥

'वह सभा नहीं जहाँ वृद्ध न हों। वे वृद्ध नहीं जो धर्म न कहते हों। वह धर्म नहीं जहाँ सत्य न हो। वह सत्य नहीं जिसमें छल-प्रपञ्च मिला हो।' इस तत्त्वका अनुसरण नहीं कर रही हैं। पदे-पदे सत्यका अपलाप, छल-प्रपञ्च आदि चलता ही रहता है। पक्षनिष्ठतासे काम चलता है, इसलिये इस प्रकारके छल-प्रपञ्च, अपलाप चलेंगे ही।

ऐसा प्रतीत हो रहा है

ऐसा प्रतीत हो रहा है कि दो संस्कृतियोंकी टक्कर हो रही है। घोर टक्कर हो रही है। किसी आंग्ल कविका कथन था—

भावानुवाद-

पूर्व पूर्व ही है।
और पश्चिम पश्चिम॥
इन दोनोंका मेल,
कभी नहीं होगा। कभी नहीं होगा।

अंग्रेजोंके समयमें इन दोनोंका पूर्व-पश्चिमका मेल तो हुआ, पर टिक न सका, कुछ इधरके गुण उधर गये, संसर्ग-दोषसे उधरके गुण इधर आ बैठे, पर पूरा-पूरा मेल न हो सका।

दूसरे एक आंग्ल कविने कहा—

पूर्व और पश्चिमका मेल कभी नहीं होगा, ऐसा मत कहो।

भावानुवाद—'एक दिन आनेवाला है।
पूर्व-पश्चिम दोनों मिलेंगे॥
ऐसे मिलेंगे कि दोनोंके प्रकाशसे, एक ऐसा सुन्दर प्रकाश बढ़ेगा जिसकी कोई अवधि नहीं है अथवा नहीं होगी।

समझमें नहीं आ रहा है कि पहिले कविकी बात मान लें कि दूसरे कविकी।

पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम है। दोनोंका स्थान निश्चित है। दोनोंमें अन्तर भी अत्यधिक है। दोनों एकत्र आकर एक दूसरेको मिटानेमें समर्थ होंगे क्या? अथवा दोनों किसी समय ऐसे मिल जायँगे क्या, एक रूप हो जायँगे क्या, जिसमें यह पहचान ही न हो सके कि यह पूर्व है कि पश्चिम ही है कि दोनों मिलकर एक तीसरी अवर्णनीय वस्तु बन गये हैं।

हम कोई भविष्यवादी व्यक्ति नहीं हैं। हम जब भूतको वर्तमानसे मिलाते हैं, अथवा भूतसे भविष्यत्‌का विचार करते हैं, तब चञ्चल वर्तमानपर विश्वास भी तो नहीं बैठता।

हम तो इसी निर्णयपर पहुँचते हैं

कोई धर्म हो, कोई राज्य हो, सामाजिक व्यवहार किसी प्रकारके भी क्यों न हों, यदि ये मेलसे रहेंगे, परस्परका ध्यान रखकर रहेंगे, परस्परके रक्षक रहेंगे, तभी हम सुख-शान्तिपूर्वक रह सकेंगे। ये तीनों पृथक्-पृथक् रहें तो भी संसारकी हानि, इन तीनोंमें दो एक साथ रहें, तीसरेने साथ न दिया तो संसारकी हानि। इनका मेल न बैठनेसे हानि-ही-हानि है।

इसलिये सत्य तत्त्व क्या है

इसीकी खोज होनी चाहिये। संसार, लोग कहते हैं, दो ठोकोंमें विभक्त हो गया है एक ओर रूस आदि, दूसरी ओर अमरीका, इंग्लैंड आदि। हम कहते हैं इस प्रकार विभाग

न कीजिये। विभाग यों कीजिये—

(१) एक ओर अध्यात्मशून्य भौतिकवाद और उसका सहायक वर्तमान विज्ञान।'

(२) दूसरी ओर भारतवर्षका अध्यात्मवाद।

अथवा यों कहिये

(१) एक ओर पाश्चात्त्योंकी आसुरीसम्पद् (२) दूसरी ओर भारतीयोंकी दैवीसम्पद्। इन दोनोंमें संघर्ष चल रहा है। और देखना है, क्या होता है, कैसे होता है।

पर

लक्षणोंसे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अन्तमें जाकर दैवी-सम्पद्की ही विजय होगी। दैवीसम्पद्की विजय—भारतवर्षकी ही विजय होगी।

आकाशवाणी कहती है—'ऐसा ही होगा, ऐसा ही होगा।'

हमारा देश किधर जा रहा है

रामके चित्र जलाये जानेका आयोजन तथा गीताका कथित अपमान

कुछ लोगोंका ऐसा निश्चय है कि संसार उन्नति कर रहा है। विज्ञानजनित साधन इसके प्रमाण हैं; परंतु वास्तवमें देखा जाय तो संसार अवनतिके गर्तमें ही जा रहा है। भौतिक सुविधाएँ बढ़ी हैं; परंतु आन्तरिक संताप बहुत अधिक बढ़ रहा है। राग-द्वेष और कामना-वासनाका विस्तार बहुत बड़े परिमाणमें तथा सभी क्षेत्रोंमें हो रहा है। सारा संसार इस समय भयभीत, त्रस्त और उद्विग्न है। भारतमें भी इसका विस्तार हो रहा है। इसमें 'राजनीतिक निमित्त' तो है ही पर उसका भी मूल कारण भौतिक सुख तथा अधिकारके लिये राग-द्वेषकी वृद्धि ही है। सारे जगत्के समस्त जड-चेतन प्राणियोंको आत्मरूप देखने तथा समझनेवाले भारतीयोंने राग-द्वेषवश तथा राजनीतिक कारणोंसे भारतके टुकड़े करवाये और अब प्रान्त, भाषा आदिको लेकर परस्पर यादवस्थली मचा रक्खी है!

समग्र भारत एक महादेश था और है। उसमें दक्षिण-उत्तरका कोई प्रश्न ही नहीं था, दक्षिणनिवासी भी भारतीय थे और उत्तरनिवासी भी। सुदूर दक्षिणके लोग उत्तरकी सीमा बदरिकाश्रमकी यात्रा भक्ति-श्रद्धापूर्वक करते थे और उत्तरके लोग सुदूर रामेश्वरम्, श्रीरंगम् तथा कन्याकुमारीकी यात्रा करते थे। अब भी वैसे ही करते हैं। अबकी बार बदरिकाश्रमकी यात्रामें बहुत अधिक लोग गये और ऐसा पता लगा है कि उनमें दक्षिणके यात्रियोंकी संख्या अधिक थी। अभी कुछ ही समय पूर्व गीताप्रेसकी तीर्थयात्रा स्पेशल ट्रेन तीर्थोंमें गयी थी। उसमें लगभग साढ़े छः सौ यात्री थे, जिनमें दक्षिणनिवासी तो नगण्य संख्यामें थे; परंतु उनको दक्षिणमें जो विलक्षण और आदर्श सत्कार, प्रेम, सौजन्य तथा आत्मीयता प्राप्त हुई, वह उनके लिये चिर-स्मरणीय रहेगी। वहाँके बड़े-बड़े सम्भ्रान्त विद्वान् पुरुषोंने पब्लिक सभाओंमें कहा कि हमारी जनतामें दक्षिण-उत्तरका कोई प्रश्न ही नहीं है। यह राजनीतिक मस्तिष्ककी उपज है और राजनीतिक लोगोंके द्वारा ही यह विद्वेषकी बेल बोयी और सींची जा रही है।

पाकिस्तान न बनता तो अलग राज्य बनानेकी कल्पना ही नहीं होती, पर पाकिस्तान बन गया, इसीलिये सिखिस्तान, द्रविडस्तान आदिकी तथा भाषावार प्रान्तोंकी विषभरी कल्पनाएँ उत्पन्न हो गयीं, जिनका भीषण परिणाम सामने आ रहा है।

रावणपक्ष और रामपक्ष

पाश्चात्त्य इतिहासकारोंने अपनी कल्पनासे भारतीय इतिहासमें कई प्रकारकी अनर्गल भेदकी बातें भरीं; जिनके परिणामस्वरूप आर्य, अनार्यकी कल्पना सुदृढ़ हुई। फिर राजनीतिक लोलुपताने रामपक्ष और रावणपक्षका निर्माण किया। इसीके परिणामस्वरूप सुना जाता है कि कुछ लोगोंने मद्रासमें रावणका एक मंदिर बनवाया है और अपनेको रावणवंशीय बताकर वे रामका विरोध करते हैं। पिछले दिनों उस रावणदलके नेताओंने रामके चित्र जलानेका आयोजन किया था और तदनुसार छः सौ चित्र श्रीरामके ता० १ अगस्तको जलाये जानेवाले थे; परंतु मद्रास सरकारने बड़ी मुस्तैदीसे काम लिया। नेताओंको गिरफ्तार कर लिया और चित्र तथा दियासलाई आदि जप्त कर लिये। तमाम

भारतमें—दक्षिणमें भी करोड़ों नर-नारियोंके द्वारा साक्षात् भगवान् माने हुए श्रीरामके चित्र कहीं जलाये जाते तो पता नहीं, क्या कुपरिणाम होता । भगवान्‌ने सुबुद्धि दी, मद्रास सरकारने ठीक समयपर बुद्धिमानीपूर्ण उचित कार्यवाही की, जिससे एक बहुत बड़ी विपत्ति टल गयी। परंतु इस सम्बन्धमें मद्रास सरकारको अब भी विशेष सावधान रहना चाहिये और भविष्यमें ऐसी कोई भी अप्रिय चेष्टा न होने पाये, इसकी सुनिश्चित तथा सुदृढ़ व्यवस्था कर देनी चाहिये। साथ ही मद्रास प्रान्तमें अन्य प्रान्तीय धर्मप्रचारकोंको जाकर स्थान-स्थानपर व्याख्याके साथ रामायणका मर्म वहाँके निवासियोंको समझाना चाहिये कि रामायण जैसी उत्तर भारतकी अपनी पवित्र वस्तु है, वैसी ही दक्षिण भारतकी है। इसी प्रकार 'राम' भी सभीके पूर्वपुरुष हैं तथा साक्षात् भगवान् हैं। वास्तवमें ऐसी ही बात है भी। रामायणकी रावण-राम-युद्धकी घटनाको यदि उत्तर भारतका दक्षिण भारतपर आक्रमण समझा जाता तो दक्षिण भारतमें न राम-पूजा होती, न विशाल राम-मन्दिर बनते, न रामायणोंका निर्माण होता। संत श्रीविनोबाजीने ठीक ही कहा है कि "तमिलकी कम्बन रामायणसे अधिक अत्युत्तम कृति शायद ही कोई और होगी ....'तथा मलयालममें 'एलुवचन' की रामायण सर्वोत्तम कृति मानी जाती है। अगर वह उत्तर भारतके दक्षिण भारतपर आक्रमणके रूपमें होती तो उस आक्रमणका दक्षिण भारतवाले गौरव क्यों करते ? रामायणका यही आदर और यही कल्पना कर्णाटक और आंध्रमें भी है।" अतएव राजनीतिक कारणोंसे निर्मित इस कुकल्पनाको तथा इसके प्रयासको जरा भी पनपने न देकर जड़से उखाड़ देना चाहिये। इसीमें सरकारकी तथा बुद्धिमान् जननायकोंकी बुद्धिमानीका परिचय मिलेगा।

रामायणमें परिवर्तन

इसी प्रसंगमें संत विनोबाजीने रामायणमें परिवर्तन करनेकी बात कही है। उन्होंने जिस शुद्ध हेतुसे और जिस सद्भावनासे रामायणमें परिवर्तनकी यह बात कही है, उस हेतु और भावनाका विरोध नहीं है; परंतु 'रामायण इतिहास नहीं है, इसलिये उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है' उनके ये विचार उनकी दृष्टिमें उचित हो सकते हैं, पर इन विचारोंसे असंख्य व्यक्तियोंके हृदयपर चोट पहुँची है। रामायणके राम जहाँ परात्पर पूर्णपुरुषोत्तम परमात्मा हैं वहाँ वे दशरथनन्दन सीतापति कोसलराज श्रीरामभद्र भी हैं। 'जय सगुन निर्गुनरूप रूप अनूप भूपसिरोमने।' इसी प्रकार जहाँ रामायण चित्त-शुद्धि करनेवाला महान् धर्मग्रन्थ या आचारशास्त्र है, वहाँ वह सच्चा गौरवमय इतिहास भी है। कल्पभेदसे कथाभेद है। रामायणका प्रचार बाइबल या कुरानकी भाँति केवल धर्म-ग्रन्थके नाते नहीं है, उसके सर्वोत्कृष्ट आदर्श ऐतिहासिक कथाभागके कारण है। भारतीय इतिहासमेंसे यदि रामायणके श्रीराम और महाभारत तथा श्रीमद्भागवतके श्रीकृष्ण निकाल दिये जायँ तो भारतीय इतिहास सर्वथा अचेतन, आत्मारहित और प्राणशून्य हो जायगा।

इतिहासकी जो प्राचीन भारतीय व्याख्या है, उसके अनुसार तो रामायण सर्वथा इतिहास है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥

इस लक्षणके अनुसार रामायण आर्य-जातिका सच्चा इतिहास है। संत विनोबाजी-सरीखे आदर्श पुरुषको किसी ऐसे विषयपर अपने विचार प्रकट करते समय, जिसका करोड़ों-करोड़ों व्यक्तियोंके हृदयके साथ सम्बन्ध है, विशेषरूपसे विचार करना चाहिये। यह हमारी उनसे सादर प्रार्थना है।

किताबकाण्ड और गीताका कथित अपमान

इधर एक उपद्रव देशमें और आरम्भ हुआ है। अमेरिकामें वर्षों पहले एक पुस्तक निकली थी, जिसका नाम था धार्मिक नेता (Living biographies of Religious Leaders), प्रकाशकका नाम है 'Blue Ribbon Book,' Garden city, Newyork और लेखक हैं श्री Henry Thomas and Dani Lee Thomas.

यह पुस्तक दुनियामें सर्वत्र बिक रही थी, भारतमें भी बिकती थी। अब उसका भारतीय संस्करण 'भारतीय विद्याभवन' बम्बईने ज्यों-का-त्यों निकाला। इस पुस्तकमें मुसल्मानोंके पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहेबका चरित्र भी है। उस चरित्रमें यदि कहीं कोई ऐसे शब्द हैं जो मुसल्मानोंके चित्तपर चोट पहुँचानेवाले हैं तो वह बुरी बात है। किसी भी सम्मान्य पुरुषके सम्बन्धमें अनुचित बात नहीं लिखी जानी चाहिये। पर इसका उत्तरदायित्व पुस्तकके मूल लेखक और प्रकाशकपर है। उनको आजतक किसीने कोई आपत्तिकी बात नहीं कही। अब भी न्याय यही था कि यहाँके मुसल्मान पाकिस्तानके अमेरिकन राजदूत, भारतके अमेरिकन राजदूतको घोर प्रतिवादात्मक पत्र लिखकर उनसे अनुरोध करते कि अमेरिका सरकार इस पुस्तकको जब्त

कर ले। अमेरिकन सरकारको ऐसा करनेके लिये वे बाध्य करते। पर यह सब कुछ भी न करके—अमेरिकन सरकारसे, पुस्तकके लेखक-प्रकाशकसे कुछ भी न कहकर वे 'भारतीय विद्याभवन'के संस्थापक साधु-चरित्र उत्तरप्रदेशके राज्यपाल श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुंशीपर उबल पड़े। समाचार-पत्रोंमें, सभाओंमें उन्हें खुलेआम गालियाँ दी गयीं। उनका पुतला जलाया गया। उन्हें हर तरह अपमानित किया गया। यह भी उस अवस्थामें, जब कि पहले ही 'भारतीय विद्याभवन' ने उस पुस्तककी बिक्री बंद कर दी और उसमें प्रकाशित शब्दोंको दोषयुक्त मान लिया। 'भारतीय विद्याभवन' ने दोषयुक्त स्वीकार करनेमें यद्यपि जल्दी की; क्योंकि कहते हैं कि उस पुस्तकमें वही बातें थीं, जो इतिहासप्रसिद्ध हैं। पर इतनेपर भी मुसल्मान भाइयोंने जो जगह-जगह उग्र प्रदर्शन, हिंसात्मक उपद्रव तथा उद्दण्ड व्यवहार किया, 'हिंदुस्तान मुर्दाबाद,' 'पाकिस्तान ज़िंदाबाद'के नारे लगाये, यह सर्वथा अनुचित और अशोभन है ! किताबके भारतीय संस्करणके लिये ही इतना हिंसात्मक उपद्रव क्यों किया गया ? क्या हजरत मुहम्मदका अपमान भारतीय संस्करणसे ही हुआ ? मूल प्रकाशनसे क्या उनका अपमान नहीं हुआ ? इससे भारतीय मुसल्मानोंकी दूषित मनोवृत्तिका पता लगता है*। पता नहीं इस दूषित मनोवृत्तिका कैसा भयंकर कुपरिणाम होगा। सुना जाता है कि अलीगढ़में 'श्रीमद्भगवद्गीता' का अपमान किया गया। यदि ऐसा हुआ हो तो वह सर्वथा अक्षम्य है। किसी भी धर्मकी धर्म-पुस्तकका अपमान नहीं होना चाहिये। पर श्रीमद्भगवद्गीता तो समस्त जगत्को शान्ति और समन्वयका संदेश देनेवाला सार्वभौम सर्वमान्य ग्रन्थ है। दुनियाभरके बड़े-बड़े विद्वानोंने इससे लाभ उठाया है और इसकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है। बहुत-से मुसल्मान सज्जनोंने गीतापर लिखा है और गीताको सर्वमान्य ग्रन्थ माना है। गीता मानवमात्रका धर्म-ग्रन्थ है। गीताका अपमान विश्वमानवताका अपमान है। यद्यपि सरकारी वक्तव्यमें गीता जलानेकी बातको निराधार बतलाया गया है। गीता जलायी न गयी होगी तो दूसरे रूपमें उसका अपमान किया गया होगा; क्योंकि हिंदू महासभाके श्रीदेशपाण्डेने जाँच करके गीताके अपमानकी घटनाको सत्य बतलाया है। अतः इसकी जाँच होनी चाहिये और यदि घटना सत्य हो तो पुनः ऐसी घटना न हो, इसकी निश्चित व्यवस्था होनी चाहिये।

उपर्युक्त दूषित कार्योंसे अनुमान किया जा सकता है कि इस समय जगत् तथा भारत किस ओर जा रहा है; और शासकोंकी तथा जन-साधारणकी ओरसे उचित प्रयत्न नहीं हुआ तो इसका कितना भयंकर परिणाम होगा। भगवान् सबको सुबुद्धि दें।

पुकार सुनी जा चुकी थी !

(एक सच्ची घटना)

।मिलिटरी सूबेदारने कोई अपराध किया था। अंग्रेज अफ़सर तहक़ीक़ातको आया। आना भी था। उस दिन प्रातःकाल सूबेदारने जीवनकी प्रगाढ़तम प्रार्थना की। वह दहाड़ मारकर भगवान्के सामने रो पड़ा !

जब वह अंग्रेज हाकिमके सामने आवश्यक कागजातके साथ पेश हुआ, तब भयके मारे अपना अपराध स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना करना ही चाहता था और इसके लिये कुछ शब्द मुखसे उच्चारित कर भी चुका था, किंतु तत्काल ही बीचमें अंग्रेज हाकिमने रजिस्टरके पन्ने पलटते हुए बड़े तपाकसे कहना प्रारम्भ किया—'ऑल राइट ! तुम्हारा काम बिल्कुल दुरुस्त है ! किस पाजीने तुम्हारी शिकायत हमारे पास भेजी ? झूठ भेजी, तुम्हें बदनाम किया और हमें भी बदनाम करना चाहा कि हमारा मातहत गंदा है ! शाबास, तुम बेकसूर है।'

सूबेदार भगवान्के प्रति कृतज्ञ था। उसकी पुकार सुनी जा चुकी थी !!

—ब्रह्मानन्द 'बन्धु'

* उस दिन उत्तरप्रदेशके मुख्यमन्त्री डॉ० सम्पूर्णानन्दजीने कहा था कि 'हमारे कानूनी सलाहकारकी रायमें किसी भी हालतमें किताबपर कानूनी प्रतिबन्ध नहीं लग सकता।' फिर भी कहा गया है कि बिहार सरकारने पूरी पुस्तकको जप्त कर लिया है जिसमें ईसा, मूसा और गाँधीजीकी जीवनी भी है। बिहार सरकारकी इस कमजोरीका कारण वोटकी चिन्ता है या और कुछ, भगवान् ही जानें। पर इससे उपद्रवियोंका हौसला बढ़ना तो सम्भव है।

काम और भक्ति

(लेखक—डॉ० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

जगत् और जीवन दोनोंके मूलमें काम है, ऐसा ऋग्वेदके नासदीय सूक्त तथा अथर्व० १९।५२।१ में कहा गया है[1]। प्रश्नोपनिषद्के प्रथम प्रश्नमें जब कत्य-ऋषिके प्रपौत्र कबन्धीने महर्षि पिप्पलादसे प्रजाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें प्रश्न किया, तब उन्होंने प्रजापतिको सर्वप्रथम 'प्रजाकाम' अर्थात् प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छावाला ही कहा है। प्रश्नोपनिषद्के अन्तिम प्रश्नमें भी जिन षोडश कलाओंका वर्णन है, उनका मूल इच्छा है। ऐतरेय १।१।१ तथा १।३।१ में इसे 'ईक्षण' कहा गया है। तैत्तिरीय-उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्लीके षष्ठ अनुवाकमें 'सोऽकामयत' कहकर इसे कामका ही नाम दिया गया है। जो जिसका पूर्वज है, जनक है, वह अपनी संततिमें आश्रय पाता ही है। काम भी सबका मूल होकर सबमें समाया हुआ है, सर्वत्र व्याप्त है। इसकी यह व्याप्ति इसके प्रभविष्णुरूपको प्रकट कर रही है।

जो काम सृष्टिके मूलमें है, उसे प्रश्नोपनिषद् ईक्षणका नाम देती है। प्रकृतिकी प्रथम विकृतिमें आते ही इसकी संज्ञा काम हो जाती है और मनके विकारतक पहुँचकर यह तीन दिशाओंमें विभाजित हो जाता है। मनमें कुछ जाननेकी इच्छा 'मनीषा' कहलाती है, संवेदन-क्षेत्रमें यही 'जूति' और क्रिया-क्षेत्रमें 'वश'के नामसे प्रख्यात है। इन तीनोंका एकीकरण बुद्धिमें है, परंतु मनमें आते ही क्षेत्र अलग-अलग हो जाते हैं। मनके पश्चात् इन्द्रियाँ आती हैं। मनका त्रिविध काम दस इन्द्रियोंमें दस प्रकार धारण कर लेता है। कामके प्रिय और अप्रिय दो रूप हैं। इन्हीं दो रूपोंमें मन जगत्के सूक्ष्म तथा स्थूल रूप, रस, गन्ध, शब्द आदि और प्रपञ्चकी विविध दृश्यावलि एवं व्यापारोंको विभाजित कर लेता है। इस प्रकार काम नाना इच्छाओं और वासनाओंमें प्रकट होने लगता है। प्रथम विकृतिमें निहित कामका सूक्ष्मतम रूप क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मसे स्थूल और स्थूलसे स्थूलतर होता जाता है। बुद्धितत्त्वमें निहित कामको समझना कठिन है, पर मनकी ज्ञान, भाव और कर्मकी इच्छाएँ समझमें आ जाती हैं। साधारण संस्कृत मानवकी भी पहुँच वहाँतक सम्भव है। अतः कामको हम मनोभव—मनसे उत्पन्न हुआ कहा करते हैं। वस्तुतः काम मनसे उत्पन्न नहीं होता। वह मनका भी बीज है।

अथर्ववेद काण्ड १९ के सूक्त ५२ का ऋषि कामका निरूपण करते हुए कहता है कि मूल काम अपने संतति-स्वरूप बृहत्, फैले हुए कामके साथ सयोनि बना हुआ विविध रूपोंमें (विभुर्विभावा) प्रकट होता है। सम्पत्ति, पोषण, उग्रता, ओज, स्वर्ग आदि इसके अनेक क्रियाक्षेत्र हैं। कामकी विशेषता बतलाते हुए मनु लिखते हैं—

काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥
संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद् यद्धि कुरुते किंचित् तत् तत् कामस्य चेष्टितम्॥

(मनुस्मृति २।२-४)

वेदका ज्ञान और वैदिक कर्मयोगका अनुष्ठान दोनों ही कामना करनेके योग्य हैं। काम समस्त संकल्पोंका मूल है। यज्ञ संकल्पसे उत्पन्न हुआ है। व्रत और यम-नियमादि धर्म सभी संकल्पप्रसूत हैं। अकाम, कामनाशून्य व्यक्तिकी कोई भी क्रिया यहाँ दिखायी

१. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। (ऋ० ८।७।१७ तथा अथर्व० १९।५२।१)

नहीं देती, जो कुछ यहाँ किया जाता है, वह कामकी चेष्टाका ही परिणाम है ।

कामका मूल रूप हिंदीके अमर कलाकार स्वर्गीय 'प्रसाद'जीके शब्दोंमें मङ्गलसे मण्डित और श्रेयस्कर है। सृष्टिके मूलमें यही कार्य कर रहा है।[1] जो काम मङ्गलसे मण्डित और कल्याणका निकेतन है, जिससे आनन्दकी प्राप्ति होती है, वह प्रपञ्चसे सम्बद्ध होकर लौकिक वासनाओंसे विकृत, अमङ्गलजनक और दुःखका कारण भी बनता है। मानवकी निम्नगा प्रवृत्ति कामके विशुद्ध स्वरूपको कलुषित कर देती है। उसकी महनीय महत्ता, श्रेयस्कर स्थिति नष्ट हो जाती है।

मानवकी यह निम्नगा प्रवृत्ति क्या है? मुझे भूख लगती है। भूखसे कष्ट होता है। मैं इस कष्टका निवारण करना चाहता हूँ और उसके लिये रोटी, चावल, दाल, दूध, दही, पकवान जो कुछ मिल जाता है, उसे उदरस्थ कर लेता हूँ। ऐसा करनेसे मुझे बुभुक्षाजन्य कष्टसे त्राण मिल जाता है। इस त्राणसे मुझे सुख होता है। एक इच्छाकी पूर्ति होती है। पर, इच्छा एक नहीं, अनेक हैं। उनमेंसे सब तृप्तिको प्राप्त नहीं होतीं। इच्छाओंकी पूर्तिके लिये साधन चाहिये। ये साधन सबके पास नहीं हैं। साधनोंके अभावमें इच्छाएँ अतृप्त रहती हैं और मानसिक ग्रन्थियोंको जन्म देती हैं। मनकी उलझन जीवनके प्राप्त सुखको भी किरकिरा कर देती है। इस उलझनको सुलझानेके लिये मैं उचित-अनुचितका विचार छोड़ देता हूँ और ऐसे कार्य करने लगता हूँ जिनसे समाज उलझनमें पड़ जाता है और मेरी उलझन सुलझनेके स्थानपर और भी अधिक उलझ जाती है। इसके साथ, एक इच्छा तृप्त होनेके पश्चात् पुनः अपनी पूर्तिके लिये अग्रसर होती है। इसपर भी ध्यान देना चाहिये। मैंने एक बार दूध पी लिया, परंतु कुछ समय पश्चात् फिर दूसरी बार दूध चाहिये। हिटलरने पोलैंड हस्तगत कर लिया, अब आस्ट्रिया या रूमानिया या यूक्रैन भी उसके आधिपत्यमें आने चाहिये। एक इच्छाका अन्त नहीं हो पाता कि दूसरी इच्छा अपनेको पूर्ण करनेके लिये खड़ी हो जाती है और पूर्ण न होनेपर मनमें (व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही रूपोंमें) वैसी ग्रन्थियाँ उत्पन्न करती हैं। मानव-जीवन इच्छाओंके इसी पुञ्जमें, तृप्तिसे सुख और अतृप्तिसे दुःख प्राप्त करता हुआ, उलझा रहता है। उसे इच्छा-तृप्तिके साधन जुटानेमें ही संलग्न रहना पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें—

'डासत ही गई बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो।'

'बिछौना बिछाते-ही-बिछाते जीवनरूपी रात्रिका अवसान हो जाता है। प्रगाढ़ निद्राका सुख क्षणभरके लिये भी प्राप्त नहीं हो पाता।'

इच्छाओंका बढ़ाना, उनकी पूर्तिके लिये उचित-अनुचित सभी साधनोंका जुटाना न केवल मेरे क्लेशका कारण बनता है, प्रत्युत उस समाजको भी क्लेशमें डालता है, जिसमें मैं रहता हूँ। बढ़ी हुई इच्छाओंकी पूर्ति और उसके लिये आवश्यक साधन-सामग्रीका संचय मेरे वशके बाहर है। मैं बाहर चलता हूँ, अपने सुखके लिये समाजको और परिस्थितियोंको झकझोरता हूँ। कभी उनकी अनुकूलता मुझे प्राप्त हो जाती है, कभी नहीं। अनुकूल होनेपर जब कभी उनका अहं अंदरसे तड़पता है, तब उनकी प्रतिकूलता और प्रतिक्रिया मुझे झकझोर देती है। परिस्थितियोंके साथ मेरे इसी संघर्षका परिणाम दुःख है।

मानवको जो कुछ प्राप्त है, उसीसे संतुष्ट होकर यदि वह अपनी अधीनस्थ शक्तियोंके विकासमें जुटे तो वह अपने-आपको क्लेशोंसे बहुत कुछ दूर कर सकता है। अधीनस्थ शक्तियाँ मेरे अंदर हैं, पर उनकी चिन्ता

१. काम मङ्गलसे मण्डित श्रेय, सर्ग इच्छाका है परिणाम।
(कामायनी, सप्तम संस्करण, सर्ग श्रद्धा, पृ० ५३)

मुझे कब होती है ? मेरी चिन्ताका प्रधान लक्ष्य मुझसे बाहर रक्खी हुई वस्तुओंको प्राप्त करनेकी इच्छा है, जो सदैव अतृप्त रहती है। अतः अंदरसे बाहर भागना ही मानवकी निम्नगा प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति सुख-दुःखसे समन्वित रहती है। अनुकूल परिस्थिति सुख और प्रतिकूल परिस्थिति दुःखका हेतु है।

सुख और दुःखसे ऊपर आनन्दकी अवस्था है। मानवके अंदर निहित कामका मूल रूप उसीके लिये लालायित रहता है। मानव जो बाहरकी ऊँची-से-ऊँची स्थितिमें पहुँचकर भी संतुष्ट नहीं होता, उसका यही कारण है। वह तृप्ति चाहता है, आत्मतृप्ति, आत्मसंतुष्टि, यह उसे बाहरकी वस्तुओंमें नहीं मिलती। जब मानव बाहरसे हटकर अंदरकी ओर चलता है, तब उसे तृप्तिका अनुभव होने लगता है। एक कलाकार, संगीतज्ञ या कवि अपनी कलाको जन्म देकर जितनी तृप्ति प्राप्त करता है, उतनी एक साम्राज्यका संम्राट् नहीं। एक दार्शनिक अपने मनन, चिन्तन और निदिध्यासनमें उससे भी बढ़कर तृप्ति प्राप्त करता है। बाहरकी सुख-दुःख-सम्मिश्रित अतृप्ति अंदर जाकर तृप्तिकी अनुभूतिमें परिणत हो जाती है, पर पूर्ण तृप्ति वहाँ भी नहीं। काम जबतक अपने मूल रूपके साथ संयुक्त न हो जाय, तबतक पूर्ण तृप्ति कहाँ ? कोई कलाकार अपनी रचनाको कलाकी पराकाष्ठा नहीं कह सकता। कोई दार्शनिक अन्तिम सत्यकी उपलब्धिका दावा नहीं कर सकता। पूर्ण तृप्ति तो पुण्यकी पराकाष्ठा, निखिल कलाओंके स्रोत, अन्तिम सत्यके साथ है, जो कामका मूलाधार है, ईक्षणका केन्द्रबिन्दु है। वेद इसी हेतु कहता है—

अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥
(अथर्व० १० । ८ । ३२)

जीवात्मा अपने समीप स्थित प्रकृतिको छोड़ता नहीं, उसके साथ बँधा हुआ है और अपने समीप विराजमान परमेश्वरको देखता नहीं; उसकी अनुभूतिसे अलग है। इसी कारण वह आनन्दसे वञ्चित और दुखी है। उसने आनन्दकी प्राप्तिमें अपना कामना-जाल बाहर फैला रक्खा है, जहाँ आनन्दका लवलेश भी नहीं है। इस जालको बाहरसे समेटकर उसे अपनी समस्त कामना परमात्मामें केन्द्रित कर देनी चाहिये, जो आनन्दका धाम है; कामनाओंका यही ऊर्जस्वीकरण है। कामका यह योग ईश्वरके साथ कैसे हो ? जीव अपनी इच्छाओंको पुत्र, वित्त और यशसे हटाकर प्रभुकी ओर कैसे उन्मुख करे ? काम अपने मनोभव और विषय-वासनागत रूपका परित्याग करके अपने स्रोतकी ओर किस प्रकार प्रयाण करे ? इस समस्याने भी मानवके विकास-पथमें अनेक विघ्न उपस्थित किये हैं।

भारतीय मनीषाने इस समस्याका समाधान ज्ञान, कर्म और भक्तिके साधनत्रयद्वारा किया है। पर जैसे ही साधक ज्ञानकी ओर अग्रसर होता है, उसकी संवेदन-शक्ति उसे भावनाओंके भवँर-जालमें फाँस लेती है और बेचारा ज्ञान अपना-सा मुख लिये एक ओर उदासीन बना खड़ा रहता है। यदि जीव भावनाओंके [illegible] किसी प्रकार निकल आया तो कर्म जीवन-यापनकी सामग्री जुटानेके लिये उसे आकर्षित कर लेता है। त्याग और वैराग्यकी ओर प्रयाण करते ही संसारके वैभव-विलास उसे अपनी ओर खींचते हैं। इस प्रकार प्रत्येक साधन-पथ उसे प्रत्यूहोंसे ओतप्रोत प्रतीत होने लगता है। इसका एक प्रबल कारण भी है। आधुनिक जीव-शास्त्रके विद्वान् हमें बताते हैं कि जर्म प्लाज़्म (Germ Plasm) या शुक्र-कीट मानवकी समस्त जातिगत या वंशगत प्रवृत्तियों एवं परम्पराओंका संक्षिप्त कोष है। जो प्रवृत्ति उसके आधारपर एक बार बन गयी, वह अपनी समकक्ष एवं सहयोगिनी प्रवृत्तियोंको समेटती हुई वासनागत संस्कारोंके रूपमें आगे बढ़ती चली जाती है। साधक उसकी विपरीत दिशामें चलनेका प्रयत्न करता है, पर पग-पगपर इन प्रवृत्तियोंकी प्रबलता

ठोकर मारकर उसे पथसे विचलित करती रहती है। कोई भी साधन-पथ इस प्रकारके अन्तरायोंसे आक्रान्त हुए विना नहीं रहता। साधक सुख-दुःखके द्वन्द्वोंमें पड़ा हुआ कभी प्रवृत्तिके प्रपञ्चकी ओर अर्थात् कर्मव्यापार-जालकी ओर देखता है, कभी चितिसम्बन्धी ज्ञान-गुत्थियोंकी ओर। कभी शरीरको सम्हालता है, कभी मनको। द्वन्द्वके घेरेसे निकलना उसके लिये दुष्कर हो जाता है।

जैसा संकेत किया जा चुका है, आनन्द न सत्‌के प्रसार अर्थात् प्रकृतिके प्रपञ्चमें है और न चित् अर्थात् जीवके ज्ञान-प्रयत्नमें। वह सत् और चित् दोनोंसे पृथक् आनन्दरूप परमेश्वरमें है। आनन्दका स्थान न शरीर है, न प्राण, न इन्द्रिय और न मन तथा बुद्धि। कामके मूल रूपका स्थान भी इनमेंसे कोई नहीं है। इसी हेतु उसकी पूर्तिमें बाधाएँ पड़ती हैं। शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मनके नाना रूप ही मार्गमें विघ्न बनकर [illegible] हो जाते हैं। वर्षा, आँधी, शत्रुता, प्रारब्ध, आकस्मिक दुर्घटनाएँ, प्रिय-वियोगादि आकर मानवकी सहनशक्तिको झकझोर देते हैं। साधक पथसे विचलित होकर अपनी असहाय अवस्थासे क्षुब्ध हो उठता है। उसके अंदरसे चीत्कार निकलती है और किसी सहायककी ओर वह सकरुण नेत्रोंसे देखने लगता है। क्या भाई, पुत्र, पिता, पत्नी, पति या अन्य सम्बन्धी उसकी सहायता कर सकते हैं? नहीं, वे स्वयं उसी ज्वलित ज्वालामें, विवशताकी वह्निमें जल रहे हैं। जिस [illegible]से साधक निकलना चाहता है, वह उसे अपने चतुर्दिक्, सबके अंदर फैली हुई दिखायी देती है। ज्वालासे बचनेके लिये प्रच्छाय, जलीय, शीतल स्थान चाहिये। दुःखसे त्राण पानेके लिये आनन्दका निकेतन चाहिये। आनन्दका यह निकेतन ईश्वर है, सच्चिदानन्द परमात्मा है। सत् और चित् दोनोंका विश्रामस्थल वही है। साधकको समस्त संसार धोखा दे दे और देता ही है, परंतु परमात्मा कभी धोखा नहीं देता। इसलिये दुःखसे बचनेका साधन, द्वन्द्वके सिन्धुसे संतरण पानेका अवलम्बन, साधनोंका साधन, अवलम्बनोंका अवलम्बन, आश्रयोंका आश्रय एकमात्र आनन्दस्वरूप ईश्वर है। इसीके साथ रहना, इसीके गुण गाना, इससे हटकर अन्यत्र कहीं भी न जाना, इसीमें तल्लीन और मग्न होकर निर्द्वन्द्व विचरण करना आनन्द है। यही भक्तिमार्ग है। साधकोंने परीक्षण और अनुभव करके इसे ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग दोनोंसे ऊर्ध्व स्थान दिया है।

मानव इस मार्गमें पहुँचकर सृष्टिकी सकारणता एवं उसके उद्देश्यको हृदयङ्गम कर लेता है। उसे समस्त क्रियाएँ उसी परम सत्तासे अनुप्रेरित तथा समस्त शक्ति उसी प्राणस्रोत प्रभुसे अनुप्राणित होती प्रतीत होती हैं। अतएव इन सबके सुख-दुःखमूलक होनेकी ओरसे वह निरपेक्ष हो जाता है। द्वन्द्व उसे फिर संतप्त नहीं कर सकते। वह आनन्दधाम परमात्माकी गोदमें बैठकर आनन्दमय बन जाता है।

भक्तिमार्ग इसी हेतु प्रेमका मार्ग है। प्रेम कामका ही ऊर्जस्वित रूप है। काम इस क्षेत्रमें पहुँचकर अपने मूल रूपके साथ सम्बद्ध हो जाता है। इस मार्गमें कामकी निम्नगा प्रवृत्तियोंका निरोध और उसके वास्तविक स्वरूपका विकास होता है। वेदके शब्दोंमें भौतिक तथा आन्तरिक सिद्धियों, समृद्धियोंके स्थानपर भक्तकी कामना भगवान्‌के साथ सदैव संयुक्त रहनेकी बन जाती है। जिसने इस मूलको पकड़ लिया, उसे शाखाओं और पत्तोंसे क्या प्रयोजन? वे तो स्वयं हाथ बाँधे सामने खड़े रहते हैं। पर भक्त? भक्त उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। भगवान्‌के अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं चाहिये।

हिंदू साधु-संन्यासियोंका नियन्त्रण

पिछले दिनों भारतीय लोकसभामें एक विधेयक प्रस्तुत किया गया है, जिसके अनुसार प्रत्येक साधु या संन्यासीको रजिस्ट्री कराकर लाइसेंस प्राप्त करना होगा। इस विधेयकके अनुसार—

'साधु' अथवा 'संन्यासी'से तात्पर्य उस व्यक्तिसे है जो अपनेको किसी ऐसी धार्मिक संस्था, समाज या मठका सदस्य घोषित रता है जिसकी स्थापना या निर्वाहका उद्देश्य हिंदुओंके किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी विभागके सिद्धान्तों अथवा परम्पराओंकी रक्षा या संवर्धन हो।

बिना सविधि कानूनी रजिस्ट्री कराये और लाइसेंस देनेवाले अधिकारीको प्रार्थना-पत्र देकर लाइसेंस प्राप्त किये कोई भी न तो अपनेको साधु अथवा संन्यासी नामसे विभूषित कर सकेगा, न घोषित ही कर सकेगा।

किसी व्यक्तिको साधु या संन्यासी होते ही तुरंत लाइसेंस देनेवाले अधिकारीके पास जाकर अपनी रजिस्ट्री करा लेनी होगी और एक लाइसेंस प्राप्त कर लेना होगा।

लाइसेंस देनेवाला अधिकारी किसी लाइसेंसको स्थगित या रद्द भी कर सकता है।

लाइसेंस न लेकर अपनेको साधु या संन्यासी कहनेवाला ५००) तक जुर्माने, दो वर्षतकके कारावास तथा दोनोंके दण्डका भागी हो सकता है।

लाइसेंस लेकर भी विधानके नियमोंको न मानकर शर्तोंके विरुद्ध आचरण करनेवाला साधु या संन्यासी पाँच सौ रुपये जुर्मानेके दण्डका भागी होगा और उसका लाइसेंस भी रद्द कर दिया जायगा।

विधेयकका कारण यह बताया गया है कि 'साधु-संन्यासियोंमें पापाचारी, भिखमंगे तथा समाज-विरोधी आचरण करनेवाले लोग बढ़ रहे हैं, उनका नियन्त्रण इससे हो जायगा। जिससे सच्चे साधु बदनामीसे बचेंगे।'

यह सत्य है कि आज बहुत-से दुराचारी, ठग साधु-संन्यासीका बाना पहनकर समाजके निरीह नर-नारियोंको ठग रहे हैं और धर्म तथा परमार्थके नामपर समाजमें दुराचार फैला रहे हैं। ऐसे 'साधु' नामको कलङ्कित करनेवाले धूर्तोंका नियन्त्रण आवश्यक भी है; परंतु इस विधेयकके कानून बन जानेपर उनका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, वे तो तिकड़म भिड़ाकर अपने नामकी रजिस्ट्री करवाकर साधुओंकी सूचीमें आ ही जायँगे। बचेंगे सच्चे साधु-संन्यासी, जिनका न तो किसी ऐसे कानूनके बन्धनमें रहना शास्त्रदृष्टिसे संगत है और न वे रहना ही चाहेंगे। साधु-संन्यासी तो सनातनधर्मके पवित्र चतुर्थाश्रमी हैं। वे देशके गौरव हैं, वे संसारके समस्त भोगोंको त्यागकर भगवान्के साथ एकात्मताका पावन जीवन बिताते हैं। ऐसे महात्माओंको घसीटकर कानूनके नियन्त्रणमें लाना तथा व्यापारियोंकी भाँति रजिस्ट्री कराकर लाइसेंस लेनेके लिये कहना सनातनधर्मकी एक महान् संस्थाका घोर अपमान करना है। भारतीय संस्कृति[illegible] साधु-संन्यासीका जो स्थान है, वह किसीका नहीं है। सुदूर अतीत कालसे बड़े-बड़े सम्राटोंसे लेकर स[illegible] दीन-हीन पुरुष साधु-संन्यासियोंके चरणोंमें पहुँचकर [illegible] जीवनका असली प्रकाश पाते रहे हैं। ऐसे सर्वतन्[illegible] स्वतन्त्र, संसारकी मायासे मुक्त अथवा उसके लि[illegible] साधनामें प्रवृत्त साधुओंको 'साधु-संन्यासी' कहलानेके लिये लाइसेंस लेना पड़े, यह सोचना भी सर्वथा अनुचि[illegible] है। इस प्रकारका विधेयक उपस्थित करनेमें जरा विच[illegible] करना चाहिये था। अब भी हमारी यह विनीत प्रार्थना है कि इस विधेयकको तुरंत वापस ले लिया जाय।

त्यागी महात्मा चाहे किसी भी देश-जातिके हों, सभी पूज्य हैं, पर यह विधेयक तो केवल हिंदू साधु-संन्यासीके लिये ही है। तो क्या पापाचारी और समाज-हितके विरोधी साधु हिंदुओंमें ही हैं? मुसलमान फकीर या अन्यधर्मी सभी साधु दूधके धोये शुद्ध महात्मा ही हैं? विधेयकके निर्माताने इसका विचार न करके तो हिंदू-आदर्श और हिंदू-धर्मका भी अपमान किया है!

चार नयी पुस्तकें !

श्रीहरिः

प्रकाशित हो गयी !!

व्रत-परिचय

लेखक—स्व० पं० श्रीहनूमान शर्मा

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-सं० ४८०, मू० १।।।), सजिल्द २=), डाकखर्च १-) ।

व्रत हिंदू-संस्कृति एवं धर्मके प्राण हैं । व्रतोंपर वेद, धर्मशास्त्रों, पुराणों तथा वेदाङ्गोंमें बहुत कुछ कहा गया है । व्रतराज, व्रतार्क, व्रत-कौस्तुभ, जयसिंहकल्पद्रुम, मूककसंग्रह, हेमाद्रिव्रतखण्ड आदि बीसों ग्रन्थ व्रतोंपर ही लिखे हुए हैं । लगभग पंद्रह साल पहले 'व्रत-परिचय'के नामसे कल्याणमें वर्षोंतक धारावाहिक रूपसे एक लंबा लेख प्रकाशित हुआ था; तभीसे ही इसे पुस्तकरूपमें अलगसे प्रकाशित करनेके लिये प्रेमी पाठकोंका आग्रह था; परंतु कई कारणोंसे अबतक यह कार्य हो न पाया । अब उसे संशोधित तथा परिवर्द्धित करके प्रकाशित किया गया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थमें चैत्रके कृष्णपक्षके १२, शुक्लपक्षके ३१, वैशाख कृष्णके ६, शुक्लपक्षके १४, ज्येष्ठ कृष्णके ५, शुक्लपक्षके १३, आषाढ़ कृष्णके ३, शुक्लके १६, श्रावणके कुल २१, भाद्रपदके ३८, आश्विनके ३३, कार्तिकके ४४, मार्गशीर्षके ३३, पौषके १६, माघके ३४ और फाल्गुनके १९ व्रतोंका परिचय है । परिशिष्टमें अधिमासके ६, संक्रान्तिके ११, अयनव्रत २, पक्षव्रत २, वारव्रत २१, तिथि-वारादि पञ्चाङ्गव्रत २८, प्रायश्चित्तव्रत ४१, रोग तथा कष्टहारीव्रत १००, पुत्रप्रदव्रत ५ तथा अन्तमें वटसावित्री, मङ्गलागौरी, शिवरात्रि, ऋषिपञ्चमी, अनन्तव्रत आदिकी आठ संस्कृत मूल कथाएँ भी दी गयी हैं ।

मानसिक दक्षता

लेखक—श्रीराजेन्द्रविहारीलालजी एम्० एस्-सी०

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-सं० ३४४, मू० १), बढ़िया जिल्द १।।), डाकखर्च ।।।=)

संसारमें सुख, सफलता और समृद्धि पानेके लिये मानसिक बल और कार्यक्षमताकी आवश्यकता होती है । मानसिक दक्षता केवल भौतिक और आर्थिक क्षेत्रोंमें ही नहीं वरं धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्रोंके लिये भी अत्यन्त आवश्यक है । प्रस्तुत पुस्तकमें मानसिक दक्षताका महत्त्व, मनकी यन्त्र-रचना, मानसिक दक्षताका रहस्य, सीखनेकी कला, एकाग्रता, स्मृति और उसका विकास, सोचनेकी कला, कल्पना और मौलिकता तथा नये विचारोंका बनना आदि प्रकरणोंपर सुन्दर विवेचनात्मक प्रकाश डाला गया है । विद्वान् लेखकने इस विषयके सुप्रसिद्ध विदेशी लेखकोंके २३ ग्रन्थोंका इस पुस्तकमें उपयोग किया है ।

एक महात्माका प्रसाद

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-सं० २९२, मू० ।।।), डाकखर्च ।।।=) ।

यह ग्रन्थ यथार्थ मानव-जीवनके निर्माण, जीवनमें सुख-शान्तिकी प्राप्ति तथा जीवनके चरम और परम उद्देश्यकी सिद्धिके सफल साधन बतानेवाला है । इसकी भूमिकामें कल्याण-सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार लिखते हैं—'मेरा विश्वास है कि इसको मन लगाकर पढ़ने और तदनुसार जीवन बनानेका प्रयत्न करनेसे महान् लाभ होगा ।……।'

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० ए० १७५

गीता-दैनन्दिनी सन् १९५७ ई०

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य साधारण जिल्द ॥=), बढ़िया ॥।) ।

इसमें हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और गुजराती तिथियोंसहित पूरे वर्षमें दैनिक क्रमसे सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता, तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रका संक्षिप्त पत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक केलेंडर, प्रार्थना, उपदेशामृत, सात अनमोल बोल, गीता सुगीता कर्तव्या, शीघ्र चेतें, दो बड़ी भूलें, विनम्र संदेश शीर्षक लेख तथा आरतीके साथ-साथ रेल, तार, डाक, इन्कमटैक्स, सुपरटैक्स, मृत्युकर तथा हिंदू-उत्तराधिकारमें नया परिवर्तन आदि सूचनाएँ और माप-तौलकी सूची, घरेलू ओषधियाँ तथा स्वास्थ्यरक्षाके सप्तसूत्र दिये गये हैं ।

एक अजिल्द प्रतिके लिये डाकखर्चसहित १।=), दोके लिये २≈), तीनके लिये ३), छःके लिये ५।≈) तथा बारहके लिये १०≈) तथा एक सजिल्दके लिये डाकखर्चसहित १॥-) दोके लिये २॥-), तीनके लिये ३॥), छःके लिये ६।=) और बारहके लिये १२=) भेजना चाहिये ।

उपर्युक्त चारों पुस्तकोंका एक साथ मूल्य ४=), डाकखर्च १॥।=), कुल ६) । इनमें तीन पुस्तकें सजिल्द लेनेपर चारोंका मूल्य ५=), डाकखर्च २), कुल ७=) ।

गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है । यहाँ आर्डर देनेके पहले सभी पुस्तकें अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये । इससे आपका समय और पैसे बच सकते हैं ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क 'तीर्थाङ्क'

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क 'तीर्थाङ्क' निकलेगा । इसमें तीर्थोंके सम्बन्धमें यथासाध्य सभी प्रकारका संक्षिप्त वर्णन रहेगा । विशेषाङ्ककी सामग्री प्रेसमें दी जा चुकी है । इस अङ्कमें क्या-क्या विशेषताएँ होंगी, इसकी सूचना अगले अङ्कमें दी जायगी ।

सम्पादक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस, गोरखपुर

कृतज्ञता-प्रकाश

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका स्वास्थ्य भगवत्कृपासे क्रमशः सुधर रहा है। आशा है शीघ्र ही वे पूर्ण स्वस्थ हो जायँगे। इस बीचमें सहस्रों महानुभावोंके और माता-बहनोंके जो सच्ची प्रीतिसे भरे तार-पत्र आये हैं, इसके लिये वे हृदयसे कृतज्ञता प्रकट करते हैं। अलग-अलग सबका उत्तर लिखनेमें असमर्थता है, इसके लिये वे क्षमा चाहते हैं । इसके सिवा, उनके नाम आये हुए उन हजारों पत्रोंका, जिनका उत्तर उन्हें स्वयं लिखना-लिखवाना चाहिये, उनकी अस्वस्थतावश नहीं लिखा गया है। पत्र-लेखक महानुभाव क्षमा करें।

निवेदक-चिम्मनलाल गोस्वामी